

अवतार दर्शन



अवतारं दर्शन

लेखक

डॉ. जगन्नाथ शर्मा 'हंस'

पी-एच.डी., डी. लिट्

प्रकाशन विभाग, सं. नि. मं., दिल्ली-110009

© सं. नि. मं.

निरंकारी बाबा अवतार सिंह कृत 'सम्पूर्ण अवतार बाणी' के 56 चुने हुए
पदों का काव्यात्मक अनुवाद एवं सटीक भावार्थ।

AP-71. २.

प्रथम संस्करण :	जनवरी, 1990	3,000 प्रतियां
अब तक :		69,000 प्रतियां
35वाँ संस्करण :	मई, 2015	2,000 प्रतियां

मुद्रक:

छादेव प्रिन्टर्स निरंकारी कालोनी, दिल्ली-110009

प्रकाशकीय

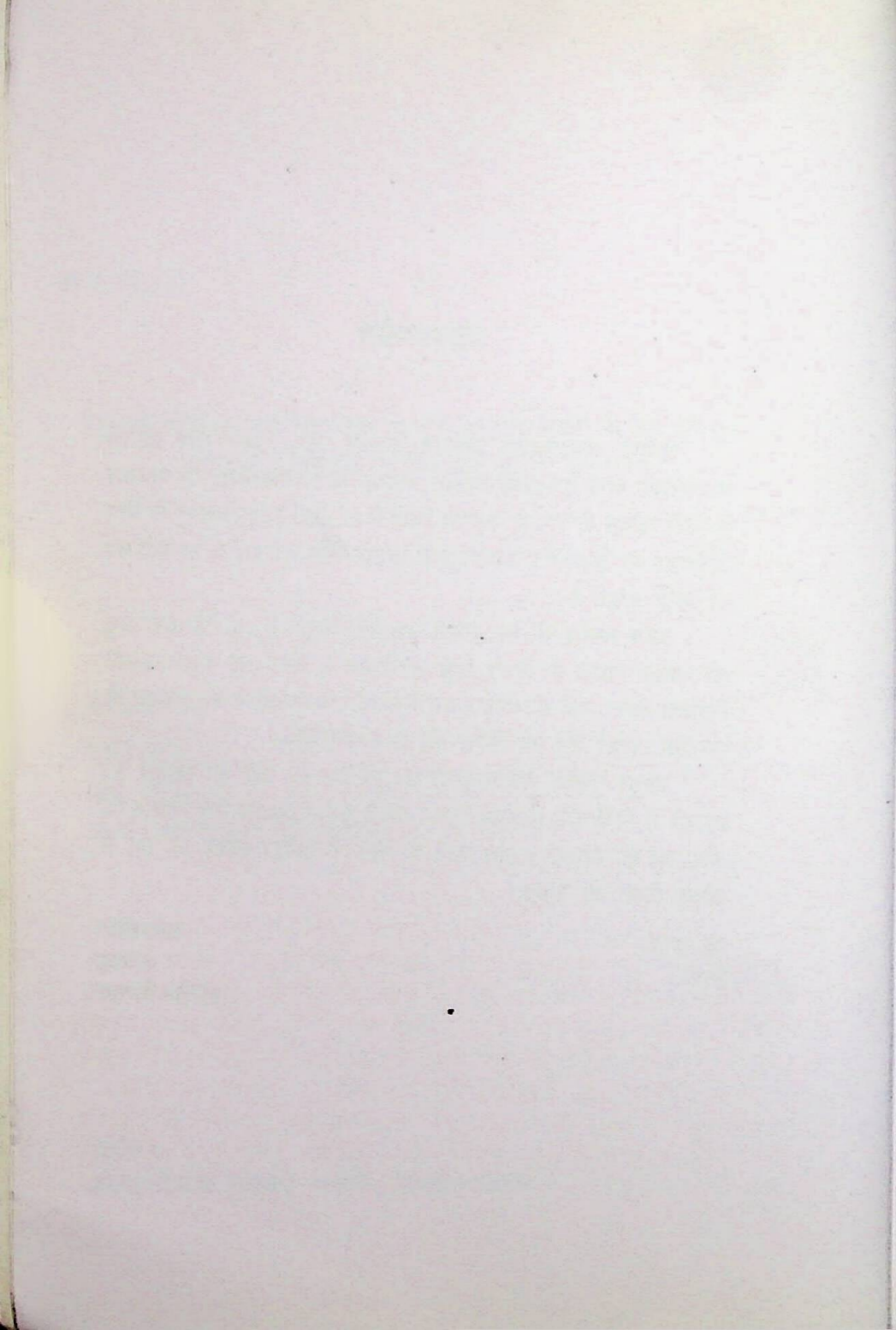
सम्पूर्ण अवतारवाणी वर्तमान कालीन परम पावन और प्रातिभ आध्यात्मिक वाणी है। इसके रचयिता सद्गुरु बाबा अवतारसिंह जी महाराज ने अपने जीवन के रूहानी अनुभव लिखे हैं तो साथ-साथ जिज्ञासु के लिए मार्गदर्शन भी किया है। अवतारवाणी सद्गुरु और गुरसिख के सम्बंधों को भी स्पष्ट करती है।

आज समाज के ऐसे अनेक प्रभु-प्रेमी मिलते हैं, जो निराकार प्रभु को जानना चाहते हैं, किन्तु सही मार्गदर्शक न मिलने के कारण उनकी जिज्ञासा शान्त नहीं हो पाती। यह ऐसी घोषणा करती है कि सद्गुरु के नजदीक आकर प्रभु की प्राप्ति की जा सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक अवतारवाणी के चुने हुए 56 पदों का भावार्थ है। पाठकों से निवेदन है कि इसे पढ़कर अपने सुझाव अवश्य भेजें जिससे कि और पदों की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए भी विद्वान लेखक डॉ. हंस से आग्रह किया जा सके।

30 जुलाई, '96
दिल्ली।

अजाबसिंह
अध्यक्ष
प्रकाशन विभाग



भूमिका

अवतारवाणी, अध्यात्म जगत की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त बहुचर्चित पुस्तक है। 1978-79 में इसकी इतनी चर्चा समाचार पत्रों में रही, कि सभी बुद्धिजीवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। सन्त-वाणियों में विशेष रुचि होने के कारण मैंने भी इसे पढ़ना चाहा। यह दैवी संयोग ही कहा जाएगा कि इसी बीच 'अवतारसिंह एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन' शोध निदेशन का सुयोग प्राप्त हुआ। जब प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक डॉ. हंस का यह पत्र मिला कि मुझे इसकी भूमिका लिखनी है, तो मैंने इसे दूसरा दैवी संयोग समझा।

मेरे विचार में अवतारवाणी भी संत-वाणियों की भांति ही, एक प्रातिभ वाणीकार के अनुभूत हृदय की अलौकिक अभिव्यंजना है। यद्यपि इसका प्रतिपाद्य भी, आत्मज्ञान, सत्संग, सद्गुरु, ब्रह्म, माया, जीव, मुक्ति इत्यादि के महत्त्व पर प्रचुर प्रकाश डालना ही है, तथापि इसकी अपनी मौलिकता भी असंदिग्ध रूप से इसमें सुरक्षित है। संत अवतारसिंह अपने समय के अलौकिक शक्ति-सम्पन्न सिद्ध पुरुष थे और उन्होंने युगीन आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए इस वाणी की रचना की। वर्तमान काल में धर्म सम्बन्धी अनेक भ्रन्तिपूर्ण घटाटोपी वातावरण में जनसाधारण न केवल आत्मज्ञान के वास्तविक धर्म को भूलता जा रहा है, अपितु सत्यानुभव की आवश्यकता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाने लगा है। जो जिज्ञासु सत्य का अनुभव करने की उत्कट इच्छा अपने हृदय में रखते भी हैं, उन्हें भी उचित मार्ग न मिल पाने के कारण निराश ही रहना पड़ता है। संत अवतारसिंह ने समाज की इस पीड़ा का अपने हृदय में अनुभव किया और आजन्म अपनी कथनी, करनी एवं साहित्य के माध्यम से आत्मानुभव का सरल मार्ग जनता के समक्ष वे प्रस्तुत करते रहे हैं। इसके लिए उन्हें कट्टरपंथियों के यद्यपि अनेक विरोध भी सहने पड़े, परन्तु वे तो अपना तन-मन समाज की सेवा में समर्पित कर चुके थे। उन्होंने अपने अनुभूत सत्य का सुखद सन्देश सम्पूर्ण विश्व को देने का प्रयास किया। कदाचित् यही कारण रहा कि उन्हें 'युग पुरुष' व 'शहन्शाह जी' जैसे शब्दों से अलंकृत किया गया।

वास्तविकता तो यह है कि परिहिताय कार्य करते रहना सत्य-द्रष्टा सन्तों की विवशता है। आत्मानुभव करके सबको अपना ही रूप जानने वाले संत परोपकार भी निजोपकार

जानकर ही करते हैं। उनके लिए 'पर' कोई नहीं। यही विवशता तो उन्हें कण-कण में आत्म-दर्शन और शत्रु को भी क्षमा करने के लिए बाध्य करती है। महात्मा अवतारसिंह 20वीं शताब्दी के ऐसे ही संत थे, यह अवतारवाणी उनके ही दिव्य विचारों का सुन्दर संकलन है।

इस ग्रन्थ में 'अवतारवाणी' के 56 पदों पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक पद मूल रूप में लिखकर उसका हिन्दी काव्यानुवाद भी साथ ही दे दिया गया है। यह अनुवाद सटीक व मूलपद के सर्वाधिक निकट और सन्त-मत-मर्यादा के अन्तर्गत होने के कारण निश्चित रूप से हिन्दी-भाषियों के लिए उपयोगी होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपने स्तर से नीचे उतरकर इसमें सरल भाषा का प्रयोग जानबुझकर किया है। इससे औसत पाठक भी लाभान्वित हो सकेंगे। अनुवाद-कुशलता के परिचय हेतु देखिए—

मूल	जे सभना विच इक्को रख ए, कौण बुरा ते कौण ए चंगा। जिबें गंदगी मिल गंगा विच, हो जांदी ए आप बी गंगा।
अनुवाद	एक राम के रूप सभी तो, भला बुरा क्यों कहता है। ज्यों जल गंदा गंगा में मिल, गंगा बनकर बहता है।

प्रत्येक पद का भावार्थ लिखने के पश्चात् लेखक ने प्रत्येक भाव के साक्ष्य-स्वरूप समभाव के उद्धरण अनेक भाषाओं के ग्रंथों से होजाकर प्रस्तुत किए हैं। इससे स्वतः सिद्ध है कि लेखक ने वेद, उपनिषद्, गीता, मानस, विवेक, दूधार्पण, वादविल, कुरान इत्यादि अनेक धर्म-ग्रंथों का व्यापक अध्ययन किया है। इन सबके उद्धरणों से अवतारवाणी के भावों का समर्थन और पुष्टि करके लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानवता के लिए रचित यह पावन ग्रंथ भाव दृष्टि से अन्य धर्म-ग्रंथों के समकक्ष ही है। किसी-ग्रंथ के विषय में भ्रान्त धारणाओं के निराकरण हेतु उस पर विशद व्याख्याएं प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है, और मैं समझता हूँ कि डॉ० शर्मा ने इस विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि अध्यात्म-संघ-सम्पन्न सन्त-वृत्ति के जिज्ञासु पाठकों के लिए इस ग्रंथ में अनेक नई जानकारियाँ उपलब्ध होंगी।

नव वर्ष

1-1-1990

भोदी नगर (उ.प्र.)

—डॉ. वीरेन्द्र कौशिक

एम.ए., पी-गव.डी., डी. लिट.,

अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)

मुलतानीमल भोदी पोस्ट ग्रेजुएट कालिज

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति भी आश्चर्यजनक है, जिसके कारण यहां के लोग खाना नहीं खाते, प्रभु-प्रसाद पाते हैं; किसी से मिलने नहीं, चरण धूलि लेने जाते हैं, इनके यहां मेहमान नहीं भगवान आते हैं और इनका अपना कुछ नहीं, जो कुछ है सब भगवान का है, ये तो सेवक हैं, सिर्फ सेवा करने के लिये। जो प्रभु परमात्मा प्रदान करते हैं, वही प्राप्त कर, ये अपनी गुजरान करते हैं। यहां की जननी माता, देवी हैं, पिता प्रभु हैं, बेटी पूजनीय कन्या है, पत्नी गृह-लक्ष्मी है। यहां लोग सीना तान कर 'सेल्यूट' (SALUTE) नहीं मारते, बल्कि चरण छू कर नमस्कार करते हैं। इनका प्रत्येक कार्य भक्ति है, जो प्रभु-शक्ति से स्वयं सम्पन्न होता है। साम्यवाद, समाजवाद आदि की अपेक्षा 'आशीर्वाद' में अधिक विश्वास करने वाले ये व्यक्ति संतों और सद्गुरु को प्रभु-भाव से पूजते हैं। उनकी वाणी को रब्बी वाणी जान कर मानते हैं, आत्म ज्ञान के द्वारा स्वयं भी सुखी रहते हैं तथा दूसरों को भी सत्य पर आधारित जीवन जीने की प्रेरणा देते रहते हैं।

आध्यात्मिक विचारों से ओतप्रोत इस सुन्दर संस्कृति के मूल में संतों महात्माओं के विचार, वाणियां और धर्म-ग्रंथ कार्यशील हैं। यदि सद्गुरु से आत्मज्ञान प्राप्त करके, इन वाणियों को पढ़ा जाए, तो ये भली प्रकार मन में बैठकर विचारों का परिवर्तन कर सकती हैं। अवतारवाणी भी युगपुरुष शहंशाह अवतारसिंह जी महाराज की ऐसी ही रब्बी वाणी है। ज्ञान तो सदैव रब्बी (अपौरुषेय) ही होता है, परन्तु जब वह किसी संत महात्मा के मुखारविंद से प्रकट होता है, तो सरल होकर समझ में आने लगता है। कल्याणी अवतारवाणी का ज्ञान भी इसी कोटि का है। एक ओर यह सरल लगता है तो दूसरी ओर बहुत गम्भीर भी है। कुछ पदों की विस्तृत विवेचना, हिन्दी काव्यानुवाद सहित यहां लिखने का प्रयोजन इतना ही है कि पाठक इस वाणी की गम्भीरता को वैदिक साहित्य एवं अन्य धर्म ग्रंथों के विचारों से मिला कर देख सकें। इससे अवतारवाणी सम्बन्धी किसी भी भ्रान्ति का निराकरण स्वतः ही हो जाता है।

इस पुस्तक के लिखने का सारा प्रयत्न सद्गुरु के शुभाशीर्वाद का ही परिणाम है। इसकी प्रेरणा भी डा. राधाकृष्णन द्वारा लिखित 'भगवद्गीता' (अंग्रेजी) से प्राप्त हुई थी और परम पूज्य, प्रातःस्मरणीय निरंकारी बाबा का आशीर्वाद प्राप्त कर, वही इस पुस्तक रूप में परिणत हो गई। मोदी कालिज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा. वीरेन्द्र कौशिक का

भूमिका लिखने हेतु विशेष आभार प्रकट करता हूं। अपने सुमित्र श्री जे.आर.डी. सत्यार्थी एवं श्री भूपेन्द्र बेकल, तथा सुपुत्र डा. विजय एवं डा. राकेश ने भी इस पुस्तक-लेखन में प्रेरणादायक सहायता की है, अतः इनको भी हृदय से धन्यवाद देता हूं। प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष श्री देवराज बजाज और मुद्रक का भी लेखक आभारी है जिनके कारण यह पुस्तक इस रूप में आप तक पहुंच सकी है।

इस पुस्तक पर पाठकों के अभिमत सादर आमन्त्रित करते हुए लेखक उन सभी का आभार प्रकट करता है जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप से इस कार्य में सहायता और प्रेरणा प्रदान की है।

—डा. जगन्नाथ शर्मा 'हंस'

पी-एच.डी., डी.लिट्.

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

निरंकारी बाबा गुरुबचन सिंह

मैमोरियल कालिज, सोहना (गुड़गांव)

निवास :

3364, भारद्वाज भवन,

रामनगर, दिल्ली-110 032

(मकर संक्रान्ति 14-1-1990)

समर्पण

बीसवीं शताब्दि के तत्त्वदर्शी महात्मा,
भारत के महान संत-सम्राट,
सत्य-निष्ठ सद्गुरु,
निरंकारी बाबा गुरुबचन सिंह जी महाराज को
जिनकी अनुकम्पा से
मैं अवतार बाणी में निहित सार
समझने में समर्थ हो पाया....

□ 'हंस'

कल्याणी अवतार वाणी

जेठ की दुपहरी में, सारा जग जले जब
कीमत चुकाए कौन, शीतल फुहार की ?
सगर-सुतों से सब, त्राहि त्राहि करें जब
भगीरथ बन लाई, सुधा गंग धार की।
जाति-पाति छेद कर, माया-गढ़ बेध कर
ज्ञान सुधा सरसाई, प्यार-सतकार की।
पाएं पढ़ ऋद्धि-निद्धि, जग में प्रसिद्ध 'हंस'
कलि काल सिद्ध बनी बानी अवतार की।

सूची पत्र

क्रम सं०	अवतारवाणी—पद (प्रारम्भ एवं संख्या)	पृष्ठ
1.	मंगलाचरण (परम पिता परमात्मा)	1
2.	रूप रंग ते रेखों न्यारे, तैनुं लख प्रणाम करां। (पद सं० 1)	3
3.	हर जुरें विच सूरत तेरी हर पत्ते ते तेरा नां। (2)	9
4.	जिन्हां सच दा बीड़ा चुकया दुनियां कीती घट नहीं। (8)	12
5.	दारू पूरा बाझ परहेजों असर जिवें नहीं कर सकदा। (9)	16
6.	सब तों बड्डी दात एह तैनुं बख्शी सुन्दर काया ए। (9-1)	19
7.	इक्को नूर है सभ दे अन्दर नर है चाहे नारी ए। (9-2)	23
8.	धरती उत्ते हर मौसम दा बखरा ताणा बाणा ए। (9-3)	26
9.	अपणा इक ठिकाणा छड के दर दर धक्के खाणे नहीं। (9-4)	29
10.	इक दिन हट्टी बैठ सराफी गहणे नहीं बणा सकदा। (9-5)	32
11.	बदे उप्पर वेख ज़रा एह सूरज चन्द सितारे नें। (10)	36
12.	घर दस्सां मै की साहिब दा कर न संक्के जीभ ब्यान। (27)	40
13.	कोई कहन्दै तिन देवतयां मिल दुनियां सकल बनाई ए। (29)	44
14.	साध दी संगत जेकर मिल जाए मिट जादे ने काले दाग। (58)	48
15.	सतगुर हुन्दा जग दा दाता जो एह चाहे कर संकदा ए। (62)	51
16.	बिन वेखे मन मनदा नहीं ए बिन मन मन्ने प्यार नहीं। (78)	53
17.	मुंहों साबण साबण कहन्दा कपड़ा इक वी धोंदा नहीं। (83)	56
18.	फोल लवो इतिहास पुराणे हो गए बलियां पीरां दे। (89)	60
19.	धरती विच समाया भावें बेहिसाबा पाणी ए। (93)	66
20.	दुनियां ते मशहूर मुहब्बत जिहां चन्न चकोर दी ए। (103)	69
21.	सच्चे साधु सन्त हरि दे इक्को गल फरमादे ने। (116)	71
22.	मां नूं अपणा पुत्त प्यारा भैणां वीर प्यारा ए। (120)	76
23.	रहिन्दा कच्ची कुल्ली अन्दर रुक्खी मिस्सी खांदा ए। (122)	78
24.	फुल जिवें परवाह नहीं करदा नाल खलोते खारां दी। (146)	80
25.	सब तों बड्हा पाप ए लोको जे प्रभ दर्शन पाया नहीं। (162)	83
26.	हंसां दी तू रीस करे तें लुक लुक डड्डू खावें तूं। (171)	87
27.	रे नर तेरा एस जहां विच कोई न साथी बेली ए। (172)	90
28.	इक डली सोने दी लैके गहणे कई बणवा लईए। (211)	93
29.	चाहे पढ़ लौ गीता नूं वी एहो गल समझांदी ए। (212)	95
30.	रब ए सब दे अंग संग बसदा जंगलीं जाके लैणा की। (213)	97
31.	इक्को इक दुनियां दा मालिक मन नूं गल समझाई इक। (215)	99

32.	तन रोगी मन भोगी होवे ते धन पाप कमाई दा। (216)	102
33.	तन दा सुच्चा मन दा सच्चा धन वी खून पसीने दा। (217)	104
34.	मुश्किल है कि बन्दा कोई तेरी रहमत दे गुण गाए। (218)	106
35.	गुण इक वी ना पल्ले होवे औगुण भरे भण्डारे होण। (219)	108
36.	अपणे मुंह वडियाईयां मंग के तू चाहना एं ऊच्चा होणां। (220)	110
37.	सत्गुर चाहे हर बन्दे तों हर इक कम करवा सकदा ए। (222)	112
38.	इक नूं जाण के घट घट अन्दर सभनां दे नाल प्यार करन। (228)	115
39.	ज्ञान दे बाझों पाठ ते पूजा हनेरे ठोकर खाणा ए। (230)	117
40.	अल्लाह ईश्वर गाड वाहेगुरू एसे दे हन सारे नाम। (240)	120
41.	आलम होवे कुल इल्मां दा जग नूं सबक पढ़ावे जे। (244)	124
42.	कन्ना बाझों सभ दी सुणदा हत्थां बाझों कार करे। (256)	127
43.	सतजुग अन्दर एसे ने ही आ प्रहलाद बचाया सी। (259)	131
44.	चौरासी नूं चार खाणियां दे विच वण्डया सिरजनहार। (260)	133
45.	चन्न भुलेखे मुंह विच अग नूं जिवें चकोरा पा लैन्दा ए। (262)	137
46.	होये निमाणा अते निताना जिस नूं कोई पछाणे ना। (295)	140
47.	एह शरीर ब्रह्म नहीं ए, ब्रह्म जो एहदे विच बोले। (316)	143
48.	कोई हिन्दू कोई मुस्लिम कोई सिक्ख ईसाई ए। (318)	147
49.	अग वांगूं भखदा ए सूरज उच्चा हो जो बहंदा ए। (319)	149
50.	बन्दा समझे पाठ ते पूजा मैं नूं पार लंघावनगे। (323)	151
51.	कन्नीं सुण के अक्खीं वेखो फिर इस ते इतबार करो। (330)	154
52.	जग विच रह के सारे जग नाल बेशक कारोबार करो। (331)	157
53.	दुनियां कहे दुनियां विच रह के रब दा पाणा औखा ए। (332)	159
54.	कोइ एह आखे तड़के उठ के ठण्डे पानी नहाणां पुन्। (343)	161
55.	राम राम ते शाम शाम कर चाहे रोज पुकारो पए। (344)	165
56.	अग नूं अग दे नाल बुझाणा अग नूं होर बधाणा ए। (350)	168
57.	धरती थर थर कम्बण लगदी अम्बर छम छम रौंदा ए। (351)	171

मंगलाचरण

मूल

१. तू ही निरंकार

परम पिता परमात्मा कण कण तेरा वास।
करण करावणहार तू सब कुछ तेरे पास।
अंग संग तैनुं वेख के अवतार करे अरदास।
तू शाहां दा शहनशाह मैं दासां दा दास।

हिन्दी काव्यानुवाद

१ तू ही निरंकार

परम पिता परमात्मा कण कण तेरा वास।
करता धरता आप तू सब कुछ तेरे पास।
अंग-संग तुझको देखकर अवतार करे अरदास।
सम्राटों का सम्राट तू मैं दासों का दास।

अर्थ—हे परम पिता, हे परमात्मा, तू कण-कण में विराजमान है। तू ही सब कुछ करने वाला और (अन्तःप्रेरक होकर) कराने वाला है। मैं (अवतार सिंह) अपने अत्यन्त निकट तुझको देखकर प्रार्थना कर रहा हूँ। (मैं यह भी देख रहा हूँ कि) तू राजाओं का भी राजा है और मैं दासों का भी दास हूँ अर्थात् तू विशालतम है और मैं लघुतम।

भावार्थ—यह वाणीकार का आत्मानुभव है। उन्होंने प्रभु को कण कण में विराजमान अंग संग देख प्रभु से ही 'तू' कहकर प्रार्थना की है, प्रभु के विषय में पढ़कर या सुनकर नहीं की। इस प्रकार 'अवतारवाणी' तुलसी की 'विनय पत्रिका' की तरह एक प्रार्थना-ग्रंथ है जो वाणीकार ने आत्मानुभव के पश्चात् सीधे रूप में प्रभु से ही निवेदित किया है। यह भी देखकर ही कहा गया है कि तू (प्रभु) विशालतम (सब कुछ) और मैं (जीव) लघुतम (कुछ नहीं) हूँ।

जब जीव कुछ नहीं और परमात्मा ही सब कुछ है तो ऐसी स्थिति देखकर ही वाणीकार के मुंह से निकल पड़ा कि 'एक तू ही निरंकार' अर्थात् हे निराकार प्रभु, एक तू ही सब कुछ है।

'एक तू ही निरंकार', जिसका प्रयोग अवतारवाणी के हर पद से पहले हुआ है, यह निरंकारी मिशन के बीजमन्त्र का अंग है। दीक्षा के समय सुमिरन हेतु शिष्य को यही मंत्र प्रदत्त किया जाता है, जिसका जप करके निरंकारी आत्म ज्ञानी संत अजपा जाप की सहज स्थिति प्राप्त करते हैं। उल्लेखनीय है कि निरंकारी दीक्षा में केवल मन्त्र दान ही नहीं अपितु ब्रह्मानुभूति अथवा ब्रह्म दर्शन कराया जाता है और वैराग्य-भावना-सम्पन्न जिज्ञासु को भली भाँति यह हो जाता है।

'एक तू ही निरंकार' इस मंत्र के आठ अक्षर और चार शब्दों में प्रथम तीन शब्द ('एक', 'तू' और 'ही') 'एक' के वाचक हैं। अतः अनेक विद्वान निरंकारी दर्शन को अद्वैतवादी वेदान्त मानते हैं, जबकि 'तू' शब्द का प्रयोग होने से कहने वाला 'मैं' (जीव) स्वतः सिद्ध है, इसलिए अनेक इसे द्वैतवादी कहते हैं। अवतारवाद की मान्यता स्वीकार करने के कारण यह विशिष्टाद्वैतवाद की श्रेणी में आता है।

सद्गुरु प्रदत्त दीक्षा के समय दिया गया पूर्ण बीज मंत्र इस प्रकार है—एक तू ही निरंकार, मैं तेरी शरण हूँ, मुझे बख्श ले। वेद के तीनों विषय ज्ञान, कर्म और उपासना इसमें समाहित हैं—

- | | |
|---------------------|---------------------|
| 1. एक तू ही निरंकार | = ज्ञान |
| 2. मैं तेरी शरण हूँ | = कर्म |
| 3. मुझे बख्श ले | = उपासना, प्रार्थना |

इसीलिए अवतारवाणी के प्रत्येक पद के पहले यह लिखा गया है 'एक तू ही निरंकार'।

शूल पद 1

रूप रंग ते रेखों न्यारे, तैनू लख प्रणाम करां।
 मन बुद्धि ते अक्लों बाहरे, तैनू लख प्रणाम करां।
 अनहद ते असगाह स्वामी, तैनू लख प्रणाम करां।
 शाहां दे वी शाह स्वामी, तैनू लख प्रणाम करां।
 आदि अनादि सर्वव्यापी, तैनू लख प्रणाम करां।
 जुग जुग अन्दर तारे पापी, तैनू लख प्रणाम करां।
 सगल घटां दे अन्तर्यामी, तैनू लख प्रणाम करां।
 आपे नाम ते आपे नामी, तैनू लख प्रणाम करां।
 जीव जन्त दे पालनहारे, तैनू लख प्रणाम करां।
 कहे अवतार हे प्राण अधारे, तैनू लख प्रणाम करां।
 तेरी ओट सहारा तेरा तन मन घोल घुमावां।
 कहे अवतार तेरे ही दाता दिन रातीं गुण गावां।
 तेरे हुक्मों बाहिरा चल न सक्के कोए।
 अवतार कुझ न कर सके जो चाहे तू होए।

हिन्दी काव्यानुवाद

रूप रंग रेखा से न्यारे, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 इन्द्रिय-मन-बुद्धि से बाहरे, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 हे अथाह अनंत स्वामी, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 राजाओं के राजा स्वामी, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 आदि अनादि सर्वव्यापी, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 जुगजुग अन्दर तारे पापी, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 सर्व घटों के अन्तर्यामी, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 आप नाम और आपहि नामी, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 जीव-जन्तु के पालनहारे, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 कहे अवतार हे प्राणाधारे, तुझको लाख प्रणाम करूं।
 तेरी ओट सहारा तेरा तन-मन-वारी जाऊं।
 कहे अवतार तेरे ही दाता रात दिन गुण गाऊं।

बाहर तेरे आदेश के चल नहीं सकता कोय।

अवतार कुछ ना कर सके, जो तू चाहे होय।

अर्थ—हे प्रभो, तू अरूप, अरंग और रेखाहीन है, इन्द्रियातीत, मन और बुद्धि से परे (अगोचर) है, तू अथाह और अनंत है, सम्राटों का भी सम्राट है, आदि काल से अनादि और सर्वव्यापी है, प्रत्येक युग में पापियों का उद्धार करने वाला (पतित पावन) और सर्व-अन्तर्यामी है, तू स्वयं ही नाम (संज्ञा) और स्वयं ही नामी (परम पदार्थ) है, अवतारसिंह कहते हैं कि हे सब जीव जन्तुओं के पालनकर्त्ता प्राणाधार, मैं तुझको लाख लाख प्रणाम करता हूं।

तू ही मेरा रक्षक (ओट = रक्षक) है और तू ही मेरा सहारा (आधार) है। अपना तन और मन मैं तुझे समर्पित (अथवा तेरे में विलय) करता हूं। हे दाता, (कृपाकर कि) मैं दिन-रात (हर समय) तेरे गुण गाता रहूं। तेरे आदेश के बाहर कोई नहीं चल सकता (पत्ता तक नहीं हिलता), अवतारसिंह (वाणीकार अथवा जीव) कुछ नहीं कर सकता, तू जो चाहता है वही होता है (अर्थात् तेरे संकल्प मात्र से सृष्टि के सब कार्य होते हैं)।

व्याख्या—एक ही पद में वाणीकार ने अपने नाम का तीन बार प्रयोग करके अपने लिए प्रभु से तीन ही प्रार्थनाएं की हैं। पहली बार प्रभु को अनन्त और प्राणाधार देखकर इसे लाख लाख प्रणाम किया है (कहे अवतार हे प्राणाधारे तुझको लाख प्रणाम कर्हू)।

दूसरी बार हर समय प्रभु का गुणगान करते रहने की शक्ति प्रदान हेतु प्रार्थना की है (कहे अवतार तेरे ही दाता रात दिना गुण गाऊं)।

तीसरी बार अंत में कहा है कि अवतारसिंह (जीव) कुछ नहीं कर सकता, प्रभु ही सब कुछ कर सकता है, अतः जीव के समस्त कार्य (ज्ञान-भक्ति आदि भी) 'प्रयत्न साध्य' नहीं, 'कृपा साध्य' हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि—

ये सुख साधन ते नहीं होई।

तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई। —मानस

इस प्रकार एक ही पद में वाणीकार के नाम का तीन बार प्रयोग तीन बार पृथक पृथक प्रार्थना करने के लिए ही हुआ है।

इस पद में प्रभु के अनेक स्वरूपों और गुणों—एक, अरूप, अरंग, अरेख, अगोचर, अथाह, अनंत, राजाधिराज (महाराज), अनादि, सर्वव्यापी, युग युग में अवतार धारण करने वाला, पतित पावन, सर्व-अन्तर्यामी, नाम, नामी, पालन कर्त्ता (विष्णु), प्राणाधार, रक्षक, सर्वाधार, प्राणाधार, वरेण्य, शरेण्य, संकल्प मात्र से ही सब कुछ कर सकने में समर्थ आदि—की अपरोक्षानुभूति (दर्शन) करके ही अवतारसिंह ने प्रभु से प्रार्थना की है।

प्रभु और उसके स्वरूप का अनुभव हर ज्ञानी भक्त को हर काल में एक सा ही हुआ है: क्योंकि प्रभु एक, अपरिवर्तनशील और सदा एकरस रहने वाला है। कुछ उदाहरण

द्रष्टव्य हैं, इनका मिलान कर देखिए—

1. रूप रंग ते रेखा न्यारे, मन बुद्धि ते अक्लों बाहरे (अवतारवाणी पद 1)

(अ) रूप रेख गुन जाति जुगति बिन निरालम्ब मन चक्रत धावै।

—सूरदास (सूरसागर से)

(आ) अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

यह आत्मा अव्यक्त (निराकार), अचिन्त्य (मन का विषय नहीं) और विकार रहित (अपरिवर्तनशील) कहा जाता है।

—गीता 2/25

(इ) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो अर्थात् यह आत्मा मन, वाणी और आंख आदि इंद्रियों की पहुंच से परे है।

—केन उपनिषद् 1-3

2. 'आदि अनादि सर्वव्यापी' और 'सकल घटा दें अन्तर्यामी' (अवतारवाणी पद 1)

(अ) अनादि मध्यान्तमनन्त वीर्यम् अर्थात् (मैं आपको) आदि अन्त और मध्य से रहित सर्व-शक्तिमान देखता हूं।

(गीता 11/19)

इसी प्रकार ऋग्वेद 3-25-3 में 'यस्मिन् भूमिरन्तरिक्ष' कहकर इस प्रभु के सर्व-अन्तर्यामी रूप का अनुभव वैदिक ऋषि ने प्रकट किया है।

3. जुग जुग अन्दर तारे पापी (अवतारवाणी पद 1)

(अ) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

—गीता 4-7

अर्थात् हे अर्जुन, जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, मैं साकार रूप में प्रकट होता हूं।

(आ) ऋघङ्मन्त्रो योनि य आबभूवामृतासुवर्धमानः सृजन्मा।

—अथर्ववेद 5-1-1

अर्थात् यह सत्य है, गुप्त रहस्य है कि जो अविनाशी, नित्य, दिव्य जन्मों वाला परमात्मा धर्म की रक्षा के लिए मनुष्यादि योनियों में प्राप्त होता है।

4. आपे नाम ते आपे नामी (अवतारवाणी पद 1)

(अ) समञ्जत सरिस नाम अरु नामी

—मानस 1-21-1

नाम और नामी (पदार्थ) को समान समझता हूं, एक ही मानता हूं।

(आ) त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परमनिधानम्

अर्थात् तू अविनाशी जाननेयोग्य और विश्व का परम निधान है।

—गीता 11/18

5. तैन्नू लख प्रणाम करां (अवतारवाणी पद 1)

सभी तत्त्वदर्शी अनुभवी भक्तों का कथन है कि प्रभु-दर्शन के पश्चात् इसे तुरंत

लाख लाख नमस्कार करने के अलावा और कुछ करना बनता ही नहीं। अर्जुन ने भी तो यही किया था।

(अ) नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

—गीता 11-40

हे अनंत सामर्थ्य वाले, आपके लिए आगे से नमस्कार, पीछे से नमस्कार और आपके लिए सब तरफ से ही नमस्कार हो।

(आ) चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।

—अथर्ववेद 11-2-9

अर्थात् हे जीवाधिराज, तुझे परमात्मा को चार बार नमस्कार हो, आठ बार नमस्कार हो, दस बार नमस्कार हो और सैंकड़ों बार नमस्कार हो। (वेद के ऋषि की भांति बार-बार संख्या बदलने के बजाय अवतारसिंह ने एक बार ही 'लाख बार नमस्कार हो' कह दिया है)।

गीता में प्रभु के विराट रूप का दर्शन होने पर अर्जुन ने हजार बार नमस्कार करना कहा है। इसके बाद फिर बार-बार नमस्कार कहा है—

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।

—गीता 11-39

अर्थात् (अर्जुन कहते हैं कि) आपके लिए हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार हो!!

महात्मा अवतार सिंह ने भी ऐसी स्थिति में ब्रह्म दर्शन होने पर इस एक ही पद में दस बार यह लिखा है—

"तैनूं लख प्रणाम करां" अर्थात् तुझे लाख लाख नमस्कार करता हूं।

(इ) पुरस्तात् ते नमः कृष्ण उत्तरादधरादुत।

अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः।।

—अथर्ववेद 11-2-4

अर्थात् हे परमात्मन! तुझे सम्मुख, ऊपर और नीचे यात्री चारों ओर नमस्कार करते हैं। चारों ओर वर्तमान अंतरिक्ष से, द्यूलोक से भी दूर विद्यमान आकाश स्वरूप तुझे ब्रह्म को नमस्कार हो।

6. तेरी ओट सहारा तेरा (अवतारवाणी पद 1)

(अ) पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः काव्येन परि पाहि राजन्

—ऋग्वेद 10-87-21

हे ज्योति स्वरूप परमात्मन्, तू अपने वैदिक ज्ञान से पीछे, आगे, नीचे, ऊपर सब ओर से रक्षा कर।

7. दिन रातीं गुण गावां (अवतारवाणी पद 1)

प्रभु दर्शन होने पर उन्हें लाखों बार नमस्कार करके वाणीकार ने रात दिन प्रभु के

गुण-गान करने की कामना की है क्योंकि—

(अ) जो नहीं करइ राम गुन गाना।

जीह सो दादुर जीह समाना।

—मानस 1-113-6

अर्थात् जो जीभ राम-गुण-गान नहीं करती, वह मेंढक की जीभ के समान है (जो व्यर्थ ही टर्र टर्र करती रहती है)।

(आ) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते चं। —गीता 11-36

हे कृष्ण, आपकी उत्कृष्ट कीर्ति (गुण-गान) से सारा संसार प्रसन्न होता है और आपके गुणों (कीर्ति) को सुनने से संसार अनुराग (भक्ति) प्राप्त करता है।

8. तेरे हुक्मों बाहिरा चल न सबके कोए (अवतारवाणी पद 1)

(अ) रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या

विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा

वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥

—गीता 11-22

अर्थात् ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य (सूर्य) तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरों का समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय आदि सभी विस्मित होकर आपको देखते हैं।

(आ) यही भाव वेद में इस प्रकार कहा गया है—

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।

ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमसतृतमषाळ हम्।

—ऋग्वेद 10-48-11

अर्थात् सबका प्रकाशक मैं परमात्मा आदित्य, वसु, रुद्र-सम्बन्धियों के नाम तथा स्थान को अपने से दूर नहीं करता अर्थात् वे सदा मुझ विराट रूप में ही वास करते हैं। वे किसी से न पराजित, किसी से न हिंसा किए हुए तथा किसी से न दबाए हुए (अपने) कल्याण के लिए तथा बल-प्राप्ति के लिए मुझ परमात्मा को पाने का यत्न करते हैं (अर्थात् मेरी शक्ति से ही सब कुछ करते हैं) अथवा अपने को तैयार करते हैं।

अतः अवतारवाणी के इस प्रथम पद का महत्व केवल मंगलाचरण की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से भी है, जिसमें 4 संकेत मिलते हैं—

1. ब्रह्मतत्त्व बाबा अवतारसिंह का अनुभूत सत्य है, श्रुत या पठित नहीं। उन्होंने इस धर्म ग्रंथ की रचना ब्रह्म दर्शन करते हुए तत्त्व निष्ठ होकर ही की है।
2. उनका ब्रह्म सम्बन्धी अनुभव वैदिक ऋषियों, अन्य धर्म ग्रन्थों और पूर्वज संतों के अनुभव से मिलता है, क्योंकि परमतत्त्व का अनुभव सब कालों में सबका समान ही होता है।

3. वाणीकार 'इक तू ही निरंकार' मन्त्र का दृष्टा है, प्रकटकर्त्ता है। उन्हें तत्त्व दर्शन से विदित हो गया है कि एक निराकार ब्रह्म ही सब कुछ है, अन्य किसी की शाश्वत सत्ता नहीं। एको ब्रह्मेव द्वितीयो नास्ति।
4. उपनिषदादि ग्रंथों की मान्यता है कि ब्रह्म को जानकर व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाता है। 'ब्रह्मविद ब्रह्मेव भवति', 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' आदि कथन इसका स्पष्ट समर्थन करते हैं। अतः वाणीकार महात्मा अवतारसिंह की यह वाणी आर्षवचन है। रव्वी वाणी सम्पन्न अवतारवाणी भी एक धर्म ग्रंथ है, जो सबके कल्याण हेतु अवतारसिंह के मुखारविंद से प्रकट हुई। वाणीकार इसका रचयिता ही नहीं अपितु द्रष्टा और प्रकटकर्त्ता भी है।

वास्तविकता की इसी दृष्टि से अब अगले पदों पर भी विचार करेंगे।

मूल पद 2

हर जरें विच सूरत तेरी हर पत्ते ते तेरा नां।
 एधर ओधर चार चुफेरे तेरी सूरत तकदा हां।
 चंदन दे विच खुशबू तूं एं गंगा दे विच निर्मलता।
 तूं ही तेज है सूरज अन्दर चंदा दे विच शीतलता।
 फुल्लां विच सुहण तूं एं कलियां दे विच कोमलता।
 सूझां दे विच सोझी तूं एं तूं कला तूं कौशलता।
 सतगुरु सच्चा बूटा तुहियों दसवां द्वारा तेरा देस।
 कहे अवतार गुरु ने बख्शी अपनी बोली अपना वेस।

हिन्दी काव्यानुवाद

कण कण अन्दर सूरत तेरी हर पत्ते पर तेरा नाम।
 इधर उधर चहुं ओर तुम्हारी देख रहा हूं सूरत श्याम।
 है सुगंध चन्दन में तू ही गंगा में तू निर्मलता।
 सूरज में तू तेज बना है चन्दा में तू शीतलता।
 फूलों में सौन्दर्य तुम्हीं हो कलियों में तू कोमलता।
 बुद्धिमान में बुद्धि तू ही तू ही कला औ कौशलता।
 सद्गुरु सच का बूटा तू ही दसवां द्वारा तेरा देश।
 अवतार गुरु ने की प्रदान है अपनी बोली अपना वेश।

अर्थ—(इस पद में ब्रह्म, जगत और गुरु की एकता का प्रतिपादन 'विज्ञान योग' के आधार पर करते हुए) युगपुरुष कहते हैं कि हे (निराकार विश्वरूप) प्रभो, मैं कण कण में तेरी सूरत, पत्ते पत्ते पर तेरा नाम (स्वरूप) और (विश्व में) चारों ओर (ऊपर, नीचे और सर्वत्र भी) तेरी ही आकृतियां देख रहा हूं। चन्दन में सुगंध, गंगा में निर्मलता, सूरज में तेज और चन्द्रमा में शीतलता तू ही है। तू फूलों में सौंदर्य है, कलियों में कोमलता है, बुद्धिमानों में बुद्धि है तथा विश्व के समस्त कला कौशल में तू ही (विराजमान) है। (मैंने सावधानीपूर्वक देख लिया है कि) तू निराकार ब्रह्म ही सद्गुरु बूटासिंह (अथवा सत्य-ज्ञान का पौधा) है। नव द्वारों (माया) से परे दसवां द्वार (सत्य लोक अथवा सच खण्ड) ही तेरा देश है। ऐसे ब्रह्म रूप गुरु (बूटासिंह) ने (कृपा करके) मुझे अपना ज्ञान, भाषा और वेश (संतत्व) प्रदान किया है। (अर्थात् मैं उन्हीं की आज्ञानुसार उन्हीं की शक्ति से उन्हीं का कार्य कर रहा हूं)।

व्याख्या—सद्गुरु-कृपा से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् जब कण कण में अथवा समस्त साकार जगत में प्रभु-दर्शन होने लगता है तब वह 'विज्ञान' कहलाता है। इसीलिए गीता के सातवें अध्याय का नाम विज्ञान योग रखा गया है, क्योंकि इसमें भगवान ने विश्व की हर वस्तु का आदि कारण स्वयं को ही कहा है।

'अहं ब्रह्मास्मि' (अथर्ववेद) और 'तत्त्वमसि' (सामवेद) परमार्थ में एक ही अर्थ के वाचक हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञानी कहता है और 'तू ब्रह्म है' ऐसी भक्त की भाषा है। ज्ञान सम्पन्ना भक्ति जिसके हृदय में भली प्रकार उदय हो गई है वह 'हरिरेव जगत जगदेव हरिः हरितो जगतो नहिं भिन्नतनु' कह उठता है। अर्थात् हरि ही जगत है, जगत ही हरि है, हरि और जगत में कोई भेद नहीं। इस पद में युग पुरुष का यही भाव है। अवतारसिंह को 'तत्त्वमसि' (एक तू ही निरंकार) अधिक प्रिय था। दीक्षा के समय वे यही बीजमंत्र अपने शिष्यों को प्रदान किया करते थे और उन्होंने अवतारवाणी के प्रत्येक पद के प्रारम्भ में भी इस मंत्र का उल्लेख किया है।

'तू ही तेज हैं सूरज अन्दर चन्दा दे विच शीतलता' का भाव गीता में भी "प्रभास्मि शशिसूर्ययोः" (7-8) के द्वारा प्रतिपादित किया गया है जिसमें भगवान कृष्ण कहते हैं कि सूर्य और चन्द्र की चमक मैं ही हूँ।

'आदित पश्यामि' (अथर्ववेद 3-13-6) में भी कहा गया है कि सब पदार्थों में मेरी चमक है।

बुद्धिमानों में तू ही बुद्धि है अवतार वाणी का यही भाव गीता ने इन शब्दों में स्वीकार किया है—"बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि" (अर्थात् मैं बुद्धिमानों में बुद्धि हूँ (गीता 7-10)।

सामवेद (3-2-7-3) में भी "मेघाकारं विदथस्य प्रसाधनम्" आदि शब्दों के द्वारा कहा गया है कि बुद्धिमानों की बुद्धि परमात्मा ही है।

'सदगुरु सच्चा बूटा तुहियों' एक विलक्षण तथा चमत्कारपूर्ण पदावली है, जिसमें श्लेष अलंकार का प्रयोग है। जहां एक शब्द अनेक अर्थ देता है वहां श्लेष कहा जाता है। यहां 'बूटा' शब्द के दो अर्थ हैं। एक युग-पुरुष के दीक्षा गुरु 'बूटासिंह' और दूसरा अर्थ 'पौधा' है जो लक्ष्मा से 'आदि कारण' या प्रारम्भिक स्वरूप का अर्थ देता है। कोई भी विशाल वृक्ष पहले पौधा (अंकुर) ही होता है। इसी प्रकार इस विश्व का आदि कारण (सत्य का बूटा) परमात्मा अथवा सद्गुरु ही है।

अपने सद्गुरु का नामोल्लेख श्लेष द्वारा कोई सुकवि संत ही अपनी वाणी में कर पाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने गुरु 'नरहरिदास' का नामोल्लेख इसी शैली में इस प्रकार किया है—"कृपासिंधु नर रूप हरि" (मानस ।) अर्थात् मेरे गुरु कृपा के सागर और नर रूप में हरि (नर हरि) ही हैं। अर्थात् मनुष्य के रूप में परमात्मा ही हैं।

अवतारसिंह जी महाराज का यह कहना कि मेरे गुरु ने मुझे अपनी बोली (कहनी) और अपना वेश (रहनी) प्रदान किया है, यह भाव प्रकट करता है कि अब मैं नहीं बोलता हूँ

बल्कि सद्गुरु ही मेरे मुख से बोलता है अर्थात् सत्गुरु ने अपनी शक्ति मेरे शरीर में भर दी है, जिससे मेरी कहनी और रहनी बदल गई है।

यही बात ईसा मसीह ने भी अपने शिष्यों से कही थी कि "तुम डरना मत, तुम्हारे मुख से मैं स्वयं ही बोलूंगा।"

मूल पद 8

जिन्हां सच दा बीड़ा चुकया दुनिया कीती घट नहीं।
 संत जनां हर औकड़ झल्ली मत्थे पाया वट नहीं।
 संत जनां नूं मनमुख हरदम बौरा झल्ला कहंदे रहे।
 अपने निज स्वारथ खातिर संतां दे नाल खैहंदे रहे।
 रहबर नू वी राहों भुल्ले लोक कुराहिया कहंदे रहे।
 वे परवाह ए सन्त हरि दे ताहने मेहणे सहंदे रहे।
 शरह दे कायल जावर हाकम रज्ज रज्ज वैर कमांदे रहे।
 काजी पण्डित अन्ने आगू रज्ज रज्ज फतवे लांदे रहे।
 आए दी ते कदर न जाणन दीवे वालण मढ़ियां ते।
 कह अवतार अड़े ने मूरख अज वी ओहनां अडियां ते।

हिन्दी काव्यानुवाद

जिसने सच का बीड़ा चाबा जग ने मग में शूल बिछाए।
 संतों ने सब संकट झेले मुख पे दुख के चिन्ह न लाए।
 संत जनों को दुर्जन हरदम पागल मूरख कहते हैं।
 अपने स्वारथ के कारण ही सदा झगड़ते रहते हैं।
 पथ-प्रदर्शक को भी पापी सदा कुपंथी कहते रहे।
 निश्चित रहे पर संत हरि के व्यंग उलाहने सहते रहे।
 धर्म के अंधे अधिकारी भी करते अत्याचार रहे।
 काजी-पण्डित फतवे इनको देते बारम्बार रहे।
 आए का सम्मान न करते मरने पर पूजा करते हैं।
 कहे अवतार आज भी मूर्ख उसी पंथ पग धरते हैं।

अर्थ—जिन्होंने सत्य (ब्रह्म) की प्राप्ति की और उसके प्रचार प्रसार का बीड़ा उठाया, (मायासक्त) दुनिया के व्यक्तियों ने उनके साथ (वैर करने में) कोई कमी नहीं रखी अर्थात् उन्हें अपना शत्रु समझकर उनका विरोध करते रहे और उन्हें कष्ट देते रहे। संत भी (हर युग में) उनके विरोध से उत्पन्न कष्टों को (मुस्करा कर) सहन करते रहे परन्तु अपने मुख पर उदासी नहीं लाए। दुर्जन सज्जनों को सदा ही पागल और मूर्ख कहते रहे हैं और अपने स्वार्थ के लिए ही इनसे अकारण झगड़ा करते रहे हैं। जब जब भी अवतारी

पुरुष या संत महात्मा इस धरा पर अवतीर्ण हुए, उन्हें भी दुष्टों द्वारा कुमार्गगामी कहा गया, परन्तु हरि के संतों ने इसकी कभी चिन्ता नहीं की, बल्कि उनके व्यंग्य और कटु वचन धैर्यपूर्वक सहन करते रहे। राज्य शक्ति के धर्मान्ध अधिकारी भी इनसे शत्रुता करते रहे हैं तथा पण्डित काजी आदि भी इन की विविध प्रकार से आलोचना करके इन्हें बदनाम करने का प्रयास करते रहे हैं। महात्मा अवतारसिंह कहते हैं कि (संसार के इन लोगों के कार्य भी आश्चर्यजनक हैं, क्योंकि) ये संतों, अवतारों, पीरों, वलियों आदि का उनके जीवन काल में तो सम्मान करते नहीं, (बल्कि उल्टा विरोध करते हैं) परन्तु उनका देहांत होने के पश्चात् उनके मकबरे आदि पर दीपक जलाते हैं अर्थात् उनकी पूजा करते हैं और विस्मय तो यह है कि (विगत संतों के जीवन से कुछ न सीखते हुए) आज भी (वर्तमान काल में भी) ये मूर्ख उसी ज़िद पर अड़े हैं, अर्थात् उसी कुमार्ग पर चल रहे हैं, यानी संतों से ब्रह्मानुभूति का लाभ उठाने के बजाय उनसे वैर का मार्ग अपना रहे हैं।

व्याख्या—इस पद में युगपुरुष ने चार बातों पर विशेष प्रकाश डाला है—1. दुर्जन संतों से सहज स्वाभाविक वैर युग-युग में करके उनके सामने अनेक संकट उत्पन्न करते रहे हैं। 2. राज्य शक्ति सम्पन्न तत्कालीन शासक और अधिकारी, तथाकथित पण्डित काजी मुल्ला भी संतों का विरोध करते आए हैं। 3. इन विरोधों की संत कभी चिन्ता नहीं करते और इनके कारण अपना सत्य मार्ग भी नहीं त्यागते। 4. मूर्ख व्यक्ति संत से (ज्ञान-भक्ति का) लाभ उठाने के बजाय उनसे लड़कर अपनी हानि करते हैं क्योंकि ये देहावसान हुए अतीत के संतों की तो पूजा करते रहते हैं और वर्तमान संत से वैर-भाव बना बैठते हैं। न उनका विश्वास करते हैं और न उनसे लाभ ही उठा पाते हैं।

ग्रंथ साक्षी हैं कि देवों का राक्षसों के द्वारा अकारण विरोध होता रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक संत भी अपने युग में मायासक्त लोभी लोगों का कोप-भाजन बना रहा है। अनेक व्यक्ति अपनी मूर्खता के कारण तथा तत्कालीन शासक, अधिकारी और उनके चाटुकार पण्डित मुल्ला आदि अपने अहंकार के कारण सच्चे संतों से ईर्ष्या रखते रहे और इन्हें कष्ट देते रहे हैं। मीरा और सुकरात को विष पिलाना, जहांगीर द्वारा गुरु अर्जुनदेव को विविध कष्ट और यातनाएं देना, बाबर का गुरु नानकदेव को जेल में डालकर चक्की पिसवाना, सिकन्दर लोदी द्वारा कबीर को गंगा में फिंकवाना और हाथी से कुचलवाना, बन्दा बैरागी को औरंगज़ेब द्वारा तड़पा-तड़पा कर मारना, तत्कालीन सरकार का बाबा गुरुबचनसिंह पर मुकदमा चलाना और इससे पहले भी अवतारवाणी के रचनाकार युगपुरुष बाबा अवतारसिंह का कट्टरपंथियों द्वारा विरोध आदि अनेक उदाहरण इसके ज्वलंत साक्ष्य हैं। राम और कृष्ण जैसे अवतारी महापुरुषों का भी अपने-अपने समय में इसी प्रकार विरोध हुआ था।

उल्लेखनीय है कि यह वैर-विरोध इकतरफा (One sided) ही होता है। संत कभी दुर्जनों से वैर-भाव नहीं रखते। वे तो इन्हें अपना रूप जानकर इनसे प्रेम का व्यवहार ही

करते हैं, परन्तु दुष्ट लोग ही संत से अकारण वैर कर बैठते हैं। संत तो फिर भी इन्हें नमस्कार ही करते हैं—

बहुरि बंदि खल गन सतिभाएं।
जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं।

—मानस 1-4-1

अर्थात्—तुलसीदास जी उन दुष्ट जनों को भी नमस्कार करते हैं, जो अकारण ही दाएं से बाएं हो जाते हैं, अर्थात् मित्र से शत्रु बन जाते हैं।

संत इनका बुरा नहीं मानते, बल्कि सामने से यदि दो व्यक्ति आते दिखाई दें, उनमें से एक मनमुख (दुष्ट) और दूसरा गुरुमुख (संत) हो तो वे पहले दुष्ट को नमस्कार करते हैं और संत को बाद में।

प्रथम दुर्जन वंदे सज्जनं तदनंतरम्।

यथा मुख प्रक्षालनात्पूर्व गुदप्रक्षालनम्।।

अर्थात्—मैं दुष्ट को पहले और संत को बाद में नमस्कार करता हूं जिस प्रकार (शौचालय में पहले जाते हैं और मन्दिर में बाद में) मुँह धोने से पहले गुदा प्रक्षालन करते हैं।

यह पद लिखने का उद्देश्य एक और भी है। वह यह कि पाठकों को संत और असंत की पहचान हो जाए। क्योंकि 'संग्रह त्याग न बिनु पहचाने' ऐसा शास्त्र का वचन है। पहचान यह है कि अकारण वैर करने वाला दुष्ट होता है क्योंकि 'परपीड़ा सम नहीं अधमाई।' उनकी पीड़ा और हिंसा को मुस्कराकर सहन करने वाला, दुख-सुख में समभाव रहने वाला संत होता है। क्योंकि—

खोद खाद धरती सहे, काट कूट बनराय।

दुष्ट वचन सज्जन सहें और पै सहे न जायं।।

—कबीर

ये दुर्जन व्यक्ति संतों के गुण से कोई लाभ नहीं लेते, बल्कि विरोध में ही अपना समय और शक्ति स्वाहा कर देते हैं। यही भाव भाई गुरदास के एक कवित्त में इस प्रकार कहा गया है—

दादर-सरोज, बांस-बावन, मराल-बग
पारस-पखान, विख-अमृत संजोग है।
मृग-मृगमद अहि-मणि मधु-माखी साखी
बांझ बधू नाह नेह निष्फल भोग है।
दिनकर जोति उल्लू बरखे समय जवांसी
असन-बसन जैसे वृथावंत रोग है।

तैसे गुरमत बीज जमत न कालर में
अंकुर उदोत होत नाहिन वियोग है।

अर्थात् जैसे मेंढक अपने पास में खिले कमल की सुगन्धि का कोई आनंद नहीं लेता (जबकि भंवरा सौ कोस से आकर भी उसका आनंद प्राप्त कर लेता है), जैसे चन्दन के पास रहने वाला बांस, हंस के निकट रहने पर भी बगुला, पारस से पत्थर, अमृत से विष पास रहने पर भी कोई लाभ नहीं ले पाते, कस्तूरिया हिरन अपने अत्यन्त निकट रहने वाली कस्तूरी से ही अनभिज्ञ रहता है, सर्प मणि का, और मधुमक्खी मधु का कोई लाभ नहीं लेती है, जैसे बांझ स्त्री अपने पति के स्नेहपूर्ण भोग का कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकती, जैसे सूर्य की रोशनी का उल्लू को कोई लाभ नहीं मिलता, जैसे वर्षा ऋतु का लाभ जवांसे के पौधे को नहीं होता, जैसे पौष्टिक भोजन और अच्छे-अच्छे कपड़ों का लाभ वीमार व्यक्ति नहीं उठा पाता, उसी प्रकार संतों की गुरमत का बीज भी दुष्टों की बुद्धि रूप कल्लर (बंजर) में नहीं जमता। यानी वे संतों के ज्ञान भक्ति का लाभ नहीं उठा पाते (और अकारण उनसे विरोध करते रहते हैं)।

'नाहिन वियोग है' का अर्थ है कि ये इनसे अलग भी नहीं रहते और लाभ भी नहीं उठाते।

अवतारवाणी के इस पद पर युगपुरुष की व्यक्तिगत परिस्थितियों का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से मुखर हुआ है।

मूल पद 9

दारू पूरा बाझ परहेजों असर जिवें नहीं कर सकदा।
अमल न हत्थों करिए जेकर कम्म नहीं कोई सर सकदा।
धूड़ नहीं मिलती संत जनां दी जेकर मन सत्कार नहीं।
ज्ञान कदे नहीं दिल विच टिकदा जे गुरु ते इतबार नहीं।
गुरु बिना होंदा ज्ञान कदी नहीं मन विन ज्ञान खलौंदा नहीं।
अवतार जे पन्ज प्रण ना मन्नि ए शब्द बोध वीं होन्दा नहीं।

काव्यानुवाद

औषध विन परहेज कभी भी असर न पूरा कर सकता।
अमल बिना तो कभी किसी का काम न कोई सर सकता।
कभी न होती कृपा संत की यदि मन में सत्कार नहीं।
ज्ञान हृदय में कभी न टिकता जो गुरु पर इतबार नहीं।
गुरु विन होता ज्ञान कभी नहीं, ज्ञान बिना मन टिकता नहीं।
अवतार पांच प्रण यदि ना माने तत्त्व ज्ञान भी रुकता नहीं।

अर्थ—जिस प्रकार परहेज के बिना औषधि का पूरा प्रभाव नहीं पड़ता (स्वास्थ्य लाभ नहीं होता) इसी प्रकार ज्ञान को जब तक आचरण में न लाया जाय तो जीवन में कोई लाभ नहीं मिलता। यह ज्ञान संत की कृपा से और संत की कृपा उनके प्रति किए गए सत्कार तथा श्रद्धा से प्राप्त होती है। यह ज्ञान कभी भी गुरु के बिना नहीं हो सकता और ज्ञान के बिना मन (तत्त्व में) स्थिर नहीं होता। अवतारसिंह कहते हैं कि जो जिज्ञासु वर्तमान गुरु के दिए हुए पांच प्रणों का पालन नहीं करता उसे गुरु प्रदत्त शब्द का पदार्थ—ज्ञान (तत्त्व बोध) भी नहीं होता।

व्याख्या—जो व्यक्ति यह कहते हैं कि निरंकारी मिशन में ब्रह्मज्ञान, जिज्ञासु का कोई गुण देखे बिना ही दे दिया जाता है, उन्हें अवतार वाणी का यह पद ध्यान से देखना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि जिज्ञासु में दीक्षा लेने से पहले श्रद्धा, विश्वास और अहंकार-शून्यता (जो अगले पांच प्रणों व पदों में बतलाई जायेगी) अवश्य होनी चाहिए।

1. 'श्रद्धावांल्लमते ज्ञानम्' अर्थात् श्रद्धावान को ही ज्ञान होता है।

—गीता 4-39

2. 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् शंकालु (ज्ञान प्राप्त न होने के कारण) नष्ट हो

जाता है।

—गीता 4-40

3. 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते' अर्थात् विद्वान् व्यक्ति श्रद्धा से ज्ञान अथवा ईश्वर को प्राप्त करते हैं।

—तै० ब्रा० 3-12-3

4. इस पद से यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान के लिए गुरु-कृपा और शिष्य की वैराग्य-भावना दोनों अनिवार्य हैं। गुरु-कृपा के साथ आत्म-कृपा भी आवश्यक है, क्योंकि—

गुरु बिन होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिन।

गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहहिं हरि भगति बिन।

—मानस

अर्थात् शिष्य के वैराग्य और गुरु-कृपा बिना ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता और ब्रह्म ज्ञान के बाद भक्ति (प्रेम) के बिना सुख नहीं मिलता—यह सभी वेद-पुराणों का मत है। इस संदर्भ में महर्षि चाणक्य का मत भी उल्लेखनीय है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।

लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।

—चाणक्यनीति 10-9

अर्थात्—जिनको स्वयं ज्ञान नहीं, शास्त्र अथवा गुरु-वाणी उनके लिए क्या कर सकते हैं। अर्थात् ये उनके लिए ऐसे ही व्यर्थ हैं जैसे अंधे के लिए दर्पण व्यर्थ है।

अवतार वाणी के इस पद में विनोक्ति अलंकार के प्रयोग द्वारा ज्ञान का क्रम कहा गया है। पद की सभी छह पंक्तियों में 'नहीं' शब्द का प्रयोग कर बतलाया गया है कि किसके बिना क्या नहीं हो सकता। इसके अनुसार 1. सत्कार (श्रद्धा) के बिना संत-कृपा नहीं होती। 2. संत-कृपा के बिना गुरु-प्राप्ति नहीं होती। 3. गुरु में श्रद्धा और विश्वास बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। 4. ज्ञान बिना मन स्थिर नहीं होता। 5. गुरु के द्वारा दिए गए 5 प्रणों का दृढ़ता से पालन किए बिना मन में पदार्थ-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) नहीं टिकता। अर्थात् सत्कार, संत-कृपा, गुरु, गुरु में श्रद्धा-विश्वास, ज्ञान, पंच प्रण-पालन से ज्ञान में दृढ़ता, क्रमानुसार ही होती है।

अवतारवाणी का यह 9वां पद बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अगले पांच पदों में वर्णित पांच प्रणों का संकेत किया गया है और यह स्पष्ट रूप से दावे के साथ कहा गया है कि इन पांच प्रणों का पालन दृढ़ता से करने वाला व्यक्ति ही अपनी 'सुरति' (Intuition) में ब्रह्म ज्ञान को टिका सकता है।

आगे के पांच पदों को पढ़कर और मनन करके पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि अवतार वाणी के रचयिता ने समाज की नब्ज पहचान कर ही अपनी अलौकिक

आत्मिक शक्ति से ही इन पांच प्रणों का निर्माण किया था, जिनमें उच्च कोटि का जीवन दर्शन और समाज दर्शन निहित हैं। वर्तमान अनुसंधान से यह भी विदित हुआ है कि युगपुरुष शहंशाह अवतारसिंह जी महाराज को ब्रह्म ज्ञान तो अपने सद्गुरु बाबा बूटासिंह से प्राप्त हुआ था, परन्तु इन पांच प्रणों का निर्माण कुछ समय बाद युगपुरुष बाबा अवतार सिंह जी महाराज ने स्वयं अपनी अंतःप्रेरणा से किया था, जो एक तरफ तो अहंकार और अंधविश्वासों को समाप्त करने में सहायक हुए और दूसरी ओर व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनाने में। अर्थात् इन पांच प्रणों की उपयोगिता व्यष्टिपरक भी है और समष्टिपरक भी। यानी व्यक्तिगत लाभ भी है और समाजगत भी।

अब आगे के पांच पदों में उन पांच प्रणों का वर्णन, क्रम से करते हैं, जिनके पालन करने की प्रतिज्ञा जिज्ञासु को दीक्षा लेने के पूर्व करनी पड़ती है और इनको मान कर ही जिज्ञासु, दीक्षा (ज्ञान) का अधिकारी समझा जाता है, क्योंकि ऊपर कहा गया है कि जो इन पांच प्रणों को नहीं मानेगा, उसे तत्त्व बोध भी नहीं होगा।

पहला प्रण

मूल पद 9-1

सब तों बड़्डी दात एह तैनूं बछ्शी सुन्दर काया ए।
पर एह समझ अमानत एहदी सारा माल पराया ए।
मन है जिस दे आखे लग के हर वेले तू होनै ए ख्वार।
सारी दुनिया अपणी समझें, करना एं झूठा हंकार।
महल माड़ियां कुटुम्ब-कबीला जिन्नी तेरी माया ए।
जो कुछ दिसदै सब कुछ झूठै चलदी फिरदी छाया ए।
वरतदे होया एन्हां नूं जे हुक्म रख्ब दा जाणेगा।
होम्मे रोग ना लगगे तैनूं बन्दे मौजा पाणेगा।
जिसदी वस्तु ओहदी समझें कैम की तकरार दा ए।
कह अवतार एह पहला प्रण ए तन मन धन निरंकार दा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

सबसे सुन्दर दात हरि की दी जो सुन्दर काया है।
पर यह समझ अमानत इसकी सारा माल पराया है।
मन के कहने पर तू चलके हर दम कष्ट उठाता है।
सारी दुनिया अपनी समझे फूला नहीं समाता है।
महल-दुमहले कुटुम्ब-कबीले जितनी तेरी माया है।
दृष्टमान सब झूठ जगत में चलती फिरती छाया है।
इन्हें हरी की देन समझ कर भोगे तो सुख पाएगा।
अहंकार का रोग लगे ना मानव मौज मनाएगा।
जिसकी वस्तु उसकी जानो काम नहीं तकरार का है।
कहे अवतार यह पहला प्रण कि तन मन धन निरंकार का है।

अर्थ—मानव का शरीर ही प्रभु के द्वारा मानव को दिया गया सर्वश्रेष्ठ उपहार (दान) है। अतः इस देह को प्रभु की अमानत और पराया माल समझ कर ही इसका प्रयोग

करना चाहिए अर्थात् देह में भी आत्म भाव नहीं करना चाहिए। मन से ही अहंकार और अहंकार से ही नाना प्रकार के दुख पैदा होते हैं क्योंकि मन जिसे 'मेरा मेरा' करता है वह कभी अपना होता नहीं और जो अपना है उसका पता नहीं चल-अचल सम्पत्ति और परिवार आदि जो भी दिखाई देने वाली (साकार) वस्तुएं हैं, वे सब छाया की तरह असत्य और झूठी (अस्तित्वहीन) हैं। प्रभु की दी हुई इन वस्तुओं का प्रभु की आज्ञा से, प्रभु के लिए समर्पित भाव से ही भोग करेगा तो अहंकार का रोग समाप्त होकर तुझे आनंद का अनुभव होगा। यह तन-मन-धन और इनसे पैदा होने वाले सब सम्बन्ध जिसके हैं, निर्विवाद रूप से इन्हें प्रभु के ही समझकर अपने हृदय में भली प्रकार यह धारणा बनाते हुए पहला प्रण यही समझ, कि तन-मन-धन आदि (जिन्हें मैं अहंकारवश होकर अपना समझ बैठा हूँ) मेरे नहीं, बल्कि प्रभु परमात्मा के हैं।

व्याख्या—तन-मन-धन से अपनेपन का त्याग निश्चित रूप से अहंकार कम करके विनम्रता में वृद्धि करेगा, जिससे जिज्ञासु दीक्षा का अधिकारी अथवा ब्रह्मज्ञान के उपयुक्त बनेगा। तन-मन-धन से अभिप्रायः उनसे पैदा होने वाले सम्बन्धों से भी हैं, जैसे—

तन के सम्बन्ध—माता, पिता, पुत्र, पत्नी, भाई, परिवार आदि।

मन के रिश्ते—अपना, पराया, शत्रु, मित्र, उदासीन आदि।

धन के रिश्ते—छोटा, बड़ा, स्वामी, सेवक, अमीर, गरीब, घर, ज़मीन, बाग, रुपया पैसा आदि।

जब तन-मन-धन ही अपने नहीं तो उन पर टिके हुए सम्बन्ध और पदार्थ भी अपने कैसे हो सकते हैं, क्योंकि आधार के बिना आधारित रहता नहीं।

दृष्टमान सब माया है—

1. गो गोचर जहं लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई।

—मानस

2. तात मात भ्राता सुत दारा।
गोती नाती बहु परिवारा।
तुम किस के और कौन तुम्हारा।
जिनके तू थे रहे वोई नहीं,
कहां गए विरध हितकारी।
इस जग में तेरा कोई नहीं,
पागल मन, बिना भुरारी।

—महात्मा गंगादास

3. गज बाजि घटा भलि भूरि भटा
बनिता सुत भौंह तकै सब वै।

तुलसी धन धाम सरीर भलो
 सुरलोकप चाह रहे सब स्वै।
 सब फोटक साटक है तुलसी
 अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
 जरि जाउ सो जीवन जानकी नाथ
 जिये जग में तुम्हारो बिन हवै।

—तुलसी कवितावली, १/४।

अर्थात् हाथी घोड़ों के समूह, समर्थक वीरों के झुण्ड, प्रेम करने वाले पुत्र पत्नी परिवार आदि, धन, मकान, स्वस्थ शरीर आदि आपकी इतनी सम्पत्ति भी हो, जिसे देखकर इन्द्र भी ईर्ष्या करता हो, तुलसीदास जी कहते हैं कि वह सब ईश्वर के मुकाबले में फोटक (छानस) और साटक (चावल के ऊपर की भूसी) के समान व्यर्थ है। इतनी सम्पत्ति और परिवार आदि होते हुए भी यदि राम से प्रेम नहीं हुआ तो उस जीवन का कोई लाभ नहीं। वह जीवन तो जलना (समाप्त होना) भला जो प्रभु का ज्ञान और भक्ति प्राप्त नहीं कर सका।

4. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
 तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् जगत में सब कुछ प्रभु परमात्मा का है। अतः उसकी आज्ञा से इसका उपभोग करो और किसी के धन पर मत लालचाओ।

—ईशोपनिषद्, 1

5. अनेक वैदिक मन्त्रों में अन्त में यह जोड़ने की परम्परा है—
 'इदं न मम' अर्थात् यह मेरा नहीं।
 6. तनु मनु सभु किछु हरि तिसु केरा।
 दुरमति कहणु न जाए।

—आदि ग्रंथ, पृ० 753

पहले प्रण की विशेषताएं

वैसे तो पांचों प्रण ही ब्रह्मानुभूति के लिए भूमिका तैयार करते हैं, परन्तु इनमें इस प्रथम प्रण की मुख्य विशेषताएं ये हैं—

1. सामाजिक प्रेम-भावना—संसार के सभी झगड़ों और विवादों की जड़ यही है कि मानव तन-मन-धन को अपना मानता है। यही लालच का भी कारण है, जिससे अनेक व्यक्तियों और देशों में युद्ध होते रहते हैं। निरंकारी बाबा इस पहले प्रण के द्वारा ही मानो विश्वशान्ति और सामाजिक प्रेम-भावना की नींव रख देते हैं, जो मानसिक तनाव और असंतुलन समाप्त करने में भी सक्षम है।

2. मोह पर कुठाराघात—यह पहला प्रण ही मोह को नष्ट करने के लिए काफी है। मोह के कारण ही संसार सत्य लगा करता है और निराकार ब्रह्म का अनुभव नहीं होता। मोह की कुत्सित करामात ही सच को झूठ, और झूठ को सच करके दिखा देती है। तभी तो कहा गया है कि—

मोह सकल व्याधिन कर मूला।

जाते उपजें बहुविधि सूला।

—मानस

जैसे दर्पण हर वस्तु को उल्टा करके दिखा देता है, पूर्व की ओर मुंह पश्चिम की ओर लगने लगता है और दायां भाग बाईं ओर दिखने लगता है, इसी तरह मोह के कारण भी अपने पराए और पराए अपने लगते हैं। मोह-रोग की राम बाण दवा यह पहला प्रण ही है, बशर्ते कि इसे दिल से मान लिया जाय।

3. भक्ति मार्ग की सरलता—इस पहले प्रण को मान लेने पर ज्ञान-भक्ति का परमार्थ-मार्ग सरल हो जाता है, क्योंकि सेवा-सुमिरन-सत्संग में सबसे बड़ी बाधा, तन-मन-धन का मिथ्या आकर्षण ही है। तन, मन, धन का अभिमान न रहे तो भक्त सरल भाव से भक्ति पथ पर बढ़ता है। बाल सुलभ सरलता भक्ति की वास्तविक शक्ति है। पहले प्रण को मानते ही यह शक्ति रूपा सरलता सहज प्राप्त हो जाती है।

4. गुरमत का आधार—यह पहला प्रण ही संत की रहनी अथवा गुरमत का आधार भी है। इसे दिल से मानने में जितनी कमी रह जाती है उतनी ही कमी भक्ति में भी रह जाती है, क्योंकि भक्ति नाम समर्पण का है। भक्ति की तो बात छोड़िए, इसके बिना तो ज्ञान भी निर्मल नहीं होता। अगर तन-मन-धन को अपना मानते रहे तो लालच नहीं छूटेगा और लालच रहा तो संत कैसा ? संत मत तो आपा मारने का मार्ग है। लालच रहेगा तो आपामार कम और छापामार अधिक होगा। इस पहले प्रण में ज़रा भी ढील हुई तो भक्ति ऐसे डगमगाने लगती है जैसे आंधी में नाव।

अतः इस पहले प्रण का परमार्थ की दृष्टि से विशेष महत्व है, जिस पर प्रकाश डालते हुए वर्तमान निरंकारी बाबा हरदेव सिंह जी महाराज ने फरमाया है कि "दुनिया में जितने भी झगड़े हैं, उनका मूल कारण तन-मन-धन का अहंकार है। अगर हम इस अहंकार से मुक्ति पा लें तो सुखमय जीवन का आनन्द ले सकते हैं।"

दूसरा प्रण

मूल पद 9-2

इक्को नूर है सभ दे अन्दर नर है चाहे नारी ए।
 ब्राह्मण खत्री वैश हरीजन इक दी खलकत सारी ए।
 देह सभना दी इक्को जेही इक्को रब्ब संवारी ए।
 जात पात दे झगड़े काहदे' काहदी लोकाचारी ए।
 हिन्दू मुस्लिम सिख ईसाई इक्को रब्ब दे बन्दे नें।
 बंदे समझ के प्यार है करना चंगे भावें मंदे नें।
 जे सभनां विच इक्को रब्ब ए कौण बुरा ते कौण ए चंगा।
 जिवे गंदगी मिल गंगा विच हो जांदी ए आप वी गंगा।
 सभनूं इक्को जिहा जाण के मन दी आकड़ भनणी तूं।
 कहे अवतार ए दूजा प्रण ए वर्ण जात नहीं मनणी तूं।

हिन्दी काव्यानुवाद

एक ज्योति है सब के अन्दर नर है चाहे नारी है।
 ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य हरिजन एक की सृष्टि सारी है।
 देह सभी की एक ही जैसी एक ही राम संवारी है।
 जात पात के झगड़े कैसे, कैसी लोकाचारी है।
 हिन्दू मुस्लिम सिख ईसाई एक हरि की हैं सन्तान।
 मानव जान के प्यार है करना हमको सबसे एक समान।
 एक राम के रूप सभी तो भला बुरा क्यों कहता है।
 ज्यों जल गंदा, गंगा में मिल, गंगा बन कर बहता है।
 अहं भाव को त्याग, सभी को एक समान ही जानोगे॥
 अवतार दूसरा प्रण ये है जाति वर्ण नहि मानोगे॥

अर्थ— सभी जीव नर और मादा जब एक ही ज्योति (ब्रह्म) से बने हैं और एक ही इनका निर्माता है, एक की ही सृष्टि है, देह भी जब सब की एक जैसी ही है, तो फिर विभिन्न जाति पाँति के भेद और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के चारों वर्ण तथा लोकाचा आदि के विवाद क्यों (खड़े किये जाते) हैं। सब जातियों की तरह सब तथाकथित धर्म औ

सम्प्रदाय भी जब एक ही प्रभु की संतान हैं, तो इन्हें मानव समझकर ही (समान रूप से) प्रेम करना चाहिए, कोई अच्छा है या बुरा। जब सब एक ब्रह्म के ही रूप हैं, फिर इनमें भले, बुरे की कल्पना ही मिथ्या है। जब गंदा पानी भी गंगा में मिलकर पवित्र गंगाजल हो जाता है तो परम पवित्र प्रभु के रूप मानव गंदे अथवा बुरे कैसे रह सकते हैं ? सब को एक समान समझकर मन में बैठे जाति-पाँति के अहंकार को समाप्त करके यह दूसरा प्रण करना है कि "तू कभी जाति-पाँति, वर्णादि के आधार पर किसी को बड़ा-छोटा नहीं मानेगा।"

व्याख्या—यह पद प्राचीन वैदिक या सनातन धर्म की वर्ण-व्यवस्था का कदापि विरोध नहीं करता, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था एक तत्कालीन सामाजिक मान्यता थी। अवतार वाणी एक आध्यात्मिक ग्रंथ है, उसे आध्यात्मिक दृष्टि से ही देखना चाहिए। वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक प्रसंग में भी सभी वर्णों में समदृष्टि रखने का आदेश है, जहां ब्राह्मण और चाण्डाल, गाय और कुत्ते में भी कोई फर्क नहीं किया जाता—

1. विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके न्व पण्डिताः समदर्शिनः॥

—गीता 5-18

2. सिंहं व्याघ्र उत या पृदाकौत्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतुर्वर्चसा सविदाना॥

—अथर्व वेद 6-38-1

अर्थात् जो ज्योति सिंह में है, व्याघ्र में है, सर्प में है, जो आत्म ज्योति भोमाग्नि और विद्युत अग्नि में, जो ब्राह्मण में है, सूर्य में है, वही ज्योति समता का ज्ञान कराती हुई हमें चारों ओर प्राप्त हो।

3. तुलसी ममता राम सो, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भवपार।

—तुलसीदास

4. गंदा जल गंगा से मिलकर गंगा ही हो जाता है, इसका अर्थ यह नहीं कि अवतार वाणी अच्छे-बुरे दानव-मानव में कोई फर्क नहीं करती, बल्कि इसका अर्थ है कि यह ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है (ब्रह्मविद ब्रह्मेव भवति—ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता है—उपनिषद्) ब्रह्मज्ञान इतना पवित्र है कि वह अग्नि की भाँति सब पापों को नष्ट करके पतित को पावन और दानव को मानव बना देता है। तभी कहा गया कि गन्दा जल भी गंगा में मिल कर पवित्र गंगा ही हो जाता है। अन्यत्र भी कहा गया है—

एक नदी इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब दोऊ मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो।

इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहीं चितवै कंचन करत खरो।

—सूरदास

अर्थात्—एक स्वच्छ जल की नदी और एक गन्दे जल का नाला (नार) जब गंगा में मिलते हैं तो (गंगा भेद नहीं कस्ती) दोनों का नाम देव नदी अथवा गंगा ही हो जाता है। लोहा चाहे पूजा में काम आने वाला पवित्र हो, चाहे कसाई के घर जीव-हत्या करता हो, परन्तु पारस फर्क नहीं समझता, बल्कि एक समान ही दोनों का खरा स्वर्ण बना देता है।

5. ज्येष्ठासो अकानष्ठास एते सम्भ्रातरो वा बधुः सोम आय।

—ऋग्वेद 5/60/5

अर्थात्—न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। सभी एक ईश्वर की संतान हैं। भाई-भाई हैं। मिलकर सफलता के लिए बढ़ें।

वेद में अन्यत्र भी 'वयं सर्वे अमृतस्य पुत्रा' (हम सब अमृत-पुत्र हैं) आदि वाक्य उपलब्ध हैं।

6. जाति का गरब न करि मूरख गवारा।

इस गरब से चलहि बहुत विकारा।

—आदि ग्रंथ, पृ० 1128

7. जाति पाति पूछे नहि कोई।

हरि को भजे सो हरि का होई।

—कबीर

अब तीसरे प्रश्न पर विशेष विचार प्रस्तुत करना उचित समझा गया है, क्योंकि जाति पाति के बाद खान-पान-परिधान भी मानवता का विभाजन करके प्रेम में विघ्न बनते हैं।

तृतीय प्रण

मूल पद 9-3

धरती उत्ते हर मौसम दा वखरा ताणा बाणा ए।
 वक्खो वख पहरावा सभ दा वखरा पीणा खाणा ए।
 रब्ब ने कुझ नहीं खाण नूं दसया रब्ब वल्लों कुझ बंद नहीं।
 खाण पीण है तन दी खातर रूह दा कोई सम्बन्ध नहीं।
 कदी बैठ के ठण्डे दिल नाल बंदे एह गल सोच विचार।
 तेरा की नुकसान ने करदे धोती कच्छा ते सलवार।
 तैनूं जेहड़ा चंगा लगगे खा पी ते वस्तर पा।
 दुनिया दा उपदेशक बण के होर न झगड़े पया वधा।
 कहे अवतार एह रब्ब है मिलदा सारा माण गंवावणते।
 तीजा प्रण नफरत नहीं करनी पहनण पीवण खावण ते।

हिन्दी काव्यानुवाद

धरती पर तो हर मौसम का भिन्न ही ताना बाना है।
 पृथक-पृथक पहनावे सबके पृथक पीना खाना है।
 हरि ने नहीं कहा क्या खाओ और किया कुछ बंद नहीं।
 खान-पान है धर्म देह का, आत्म का सम्बन्ध नहीं।
 कभी बैठ के ठण्डे दिल से मानव किंचित करो विचार।
 तेरा क्या नुकसान हैं करते धोती, कच्छा या सलवार।
 जो भी तुझको रुचिकर लगते कपड़े-खान-पान अपना।
 औरों का आलोचक बनके वाद-विवाद न और बढ़ा।
 कहे अवतार राम मिलता है मन का मान गंवाने से।
 प्रण तीसरा घृणा न करना कपड़े-पीने-खाने से।

अर्थ—देशकाल के बदलने से धरती पर अलग-अलग ऋतुओं का परिवर्तन देखा जाता है और उन्हीं के अनुसार लोगों के खान-पान और परिधान (पहनावे) भी अलग-अलग हो गए हैं, अतः दूसरों के खान-पान और कपड़ों की आलोचना नहीं करनी चाहिए क्योंकि परमात्मा की ओर से इस विषय में न कोई आदेश दिया गया है और न कोई

निषेध किया गया है। यह खाना-पीना और वस्त्र पहनना वैसे भी देह का धर्म है, इससे निर्लिप्त आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे देह के अन्य धर्मों जन्म, मरण, शैशव, यौवन बुढ़ापा आदि से आत्मा का सम्बन्ध नहीं, उसी प्रकार खान-पान और वस्त्र आदि शरीर के बाह्य धर्मों से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं। हे मानव, कभी ठण्डे दिल से यह भी तो विचार कर कि औरों का खान-पान-परिधान धोती, कुरता, सलवार आदि से तेरी क्या हानि है। तुझे जो रुचिकर लगे खा, पी और पहन, परन्तु औरों की आलोचना करके क्यों वृथा वाद-विवाद खड़े करता है? हरि-मिलन रूप मुक्ति तो अहंकार त्याग से मिलती है, खान-पान और वस्त्रों के कारण किसी से कभी घृणा नहीं करना, यही तीसरा प्रण है।

व्याख्या—'किस व्यक्ति के खान-पान और वस्त्र कैसे होने चाहिए' एक वैद्यक या चिकित्सा शास्त्र का विषय हो सकता है, अध्यात्म का नहीं। शरीर के भोगों से आत्मा निर्लिप्त है, क्योंकि—

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

—श्वेताश्वर उपनिषद् 4-6

अर्थात्—जीव और ईश्वर, ये दोनों सुन्दर पंख वाले पक्षी परस्पर सखा के समान मिले इस शरीर रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। इन दोनों में से एक अर्थात् जीव स्वाद लेता हुआ इस पेड़ के फल, सुख और दुख का भोग करता है। दूसरा अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा केवल साक्षी भाव से देखता रहता है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्म का खान-पान भोगादि से कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो साक्षी मात्र दृष्टा है।

2. खान-पान मुक्ति में बाधक-साधक नहीं, क्योंकि

गीध अधम खग आमिष भोगी।

गति दीन्ही जो जाचत जोगी।

—तुलसी कृत मानस 3-33-2

अर्थात् आमिष भोगी गिद्ध को भी वही मुक्ति मिली जो योगियों और तपस्वियों को मिलती है क्योंकि 'रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जानन हारा।'

पाठक इस बात को विशेष ध्यान रखें कि अवतार वाणी का यह पद किसी प्रकार के भोजन और वस्त्रों की न अवहेलना करता है, न प्रेरणा देता है, अपितु यह स्पष्ट आदेश करता है कि तुम जो खाते पीते पहनते हो, तुम्हें मुबारक, परन्तु किसी अन्य व्यक्ति से खान-पान-परिधान के आधार पर घृणा न करो, क्योंकि यह सब देशकाल, ऋतु और परिवार की परम्पराओं पर ही आधारित होता है। संत-वाणी में ऐसा अन्यत्र भी उपलब्ध है।

3. खाणा पीणा पवित्र है दितोन रिजक संबाहि।

नानक जिनि गुरमुखि बुझिआ तिना सूतकु नाहि।

—आदि ग्रंथ, पृ० 473

अतः इस तृतीय प्रण में भी जो कुछ कहा गया है, वह शास्त्र सम्मत तथा ब्रह्मानुभूति के लिए पुष्टभूमि तैयार करता है।

कवि गिरधरदास भी भोजन और नीर (खान-पान) के विषय में सोचना मूर्ख लोगों का काम मानते हैं—

भोजन छाजन नीर की, करे सुचिता मूढ़।
जानी चिता ना करे निज पद माहि अरूढ़।
निज पद माहि अरूढ़ तिनों को चिता कैसी ?
तिस ही में आनन्द प्राप्त अवस्था जैसी।
कह गिरधर कविराय अवर ना रखै प्रयोजन।
आत्म चितन करे अदृश्य पहुँचावत भोजन।

अर्थात् जिस जीव को जैसा भोजन प्रभु की ओर से मिलता है, उसी को स्वीकार कर संत सदा प्रभु का शुक्र करते हैं, अन्य किसी बात से प्रयोजन नहीं रखते; क्योंकि खान पान का सोच विचार तो मूर्ख अर्थात् वे व्यक्ति करते हैं जिनका आत्मचितन नहीं या परमात्मा पर विश्वास नहीं। संत कभी भी अपने या दूसरे के खानपान की निंदा नहीं करते। निरंकार द्वारा भेजे भोजन की निंदा उचित नहीं है और खान पान परिधान के आधार पर किसी को हेय भी नहीं मानना चाहिए।

इसके बाद अगले पद में गृहस्थ के त्याग को अनावश्यक सिद्ध करने वाले द्वितीय प्रण पर विचार किया जाता है।

चौथा प्रण

मूल पद 9-4

अपणा इक ठिकाणा छड के दर दर धक्के खाणे नहीं।
 रहणा सदा गृहस्थी बण के भगवे कपड़े पाणे नहीं।
 भिख मंग के भेस वटा के होणा नहीं तू बंदे ख्वार।
 दसां नवां दी किरत कमाणी नहीं बणना दूजे ते भार।
 भाणे विच खुश रहणा हरदम भरमा विच न जनम गवा।
 गृहस्थी रहणै चौथा प्रण ए कहे अवतार न भेख बणा।

हिन्दी काव्यानुवाद

अपने घर को त्याग के मानव दर दर धक्के खाओ ना।
 गृहस्थ आश्रम सबसे अच्छा भगवाँ भेस बनाओ ना।
 भीख मांग के वेष बना के होना नहीं तू बन्दे ख्वार।
 अपनी रोज़ी आप कमाओ, नहीं बनो दूजे पर भार।
 राम रज़ा में राज़ी रहना भ्रम में समय गंवाओ ना।
 चौथा प्रण अवतार त्यागि गृह कोई भेष बनाओ ना।

अर्थ—हे मानव, (परमात्मा का ज्ञान और भक्ति प्राप्त करने के लिए भी) अपना घर छोड़ने की, दर दर पर भिक्षा मांगने की, गृहस्थ का परित्याग करने की और गेरुये वस्त्र धारण करने की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं। कपड़े रंग कर जहां तहां भीख मांगने से तो मुसीबतें ही बढ़ेंगी, जिनके कारण हरि-भजन भी कठिनतर हो जाएगा इस प्रकार दूसरों पर अथवा समाज पर भार कभी मत बनना। इसके लिए यदि तुम्हें कोई भुलावे में डालने की कोशिश करे तो भी भ्रान्ति में फंसकर अपना समय नष्ट नहीं करना और हरि-इच्छा को ही स्वीकार कर उसी में प्रसन्न रहना। महात्मा अवतारसिंह कहते हैं कि इसीलिए चौथा प्रण यह रखा गया है कि गृहस्थ का त्याग करके दिखावटी साधु का वेश कभी मत बनाना।

व्याख्या—जिस प्रकार दूसरा प्रण वेदादि शास्त्रों के प्रकाश में देखने पर वर्णव्यवस्था के विरुद्ध नहीं, उसी प्रकार यह चौथा प्रण भी आश्रम-व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं

डालता, क्योंकि प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय संस्कृति में कहीं भी गृहस्थ-त्याग कर समाज पर भार बनने को उचित नहीं कहा गया—

1. देवस्य सवितुः सर्वे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।

—अथर्ववेद 6-23-3

अर्थात्—सबके निर्माता ज्योति स्वरूप परमेश्वर की सृष्टि में सभी मनुष्य अपने-अपने कर्म को करें अर्थात् कोई प्राणी अकर्मण्य न हो।

2. कुवन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वाय नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

—यजुर्वेद 40-2

अर्थात्—मानव कर्म करता हुआ ही 100 वर्ष (पूर्णायु) तक जीने की इच्छा करे, इसके अलावा और कोई मार्ग श्रेष्ठ नहीं। मानव (त्याग भाव से) कर्म से लिप्त नहीं होता।

3. गोस्वामी तुलसीदास जी के मतानुसार भी भगवान की भक्ति में आसक्ति बाधक है, गृहस्थाश्रम नहीं।

घर कीन्हे घर जात है घर छाँड़ें घर जाई।

तुलसी घर बन बीचहीं, रामप्रेम पुर छाई।

—तुलसीकृत दोहावली, 256

अर्थात्—तुलसीदास जी कहते हैं कि घर करने से (गृहस्थी में रहने से) अपना असली घर (परलोक) नष्ट हो जाता है और घर छोड़ने से (सन्यास ग्रहण करने से) यहां का घर (अपना गृहस्थ) नष्ट होता है। इसीलिए तू घर और वन के बीच में ही अर्थात् घर में ही गृह-त्यागी की तरह अनासक्त रहकर श्री राम जी के प्रेम का नगर बसा।

4. गृहस्थ त्याग कर बाहर से साधु का वेश बनाकर मन में भोग चिन्तन करने वालों को शास्त्र ने मिथ्याचारी (पाखण्डी) कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

—गीता 3-6

अर्थात्—जो व्यक्ति इन्द्रियों को रोककर मन से विषय-चिन्तन करता है वह मिथ्याचारी पाखण्डी कहा जाता है। इसी संदर्भ में और भी कहा गया है कि—

यास्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

—गीता 3-7

अर्थात्—हे अर्जुन, जो प्राणी अपने मन से इन्द्रियों को वश में करके फल की इच्छा न रखते हुए कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है, वह विवेकी चतुर पुरुष विशेष योग्य माना जाता है

अर्थात् उस प्राणी से श्रेष्ठ है जो आलस्यवश कर्मों को छोड़कर मिथ्या सन्यासी बन जाता है, किन्तु मन से सब प्रकार के विषय भोगों की अभिलाषा करता है।

गीता का तो मुख्य मुद्दा ही यह है कि अजुन जब कर्म छोड़ कर भागने की बात करने लगा, तो कृष्ण भगवान ने समझाया कि यह उचित नहीं। गृहस्थ का कुरुक्षेत्र (कर्मक्षेत्र) भी जीतना पड़ेगा और परमात्मा को जान कर जीवन मुक्ति प्राप्त करना भी तेरा कर्तव्य है। गृहस्थी रह कर ही कृष्ण जी ने, गृहस्थी अर्जुन को (गीता के ग्यारहवें अध्यायानुसार) निराकार ब्रह्म का ज्ञान देकर मुक्त और संसार से अनासक्त कर दिया।

भगवान राम, जनक, सप्तऋषि आदि सभी गृहस्थ थे और भगवान के भक्त भो अति उच्चकोटि के होकर स्वयं भगवान स्वरूप हो गए थे।

5. संतों की वाणी का सकेत भी इसी ओर है—

(क) घालि खाहिं किछु हथहु देहि।

नानक राहु पछाणहि सेई॥

—आदिग्रंथ, पृ० 1245

(ख) मन रंगा नहीं उस रंग में।

क्या है कपड़े रंगने में।

—संत गंगादास

6. चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में अर्थ से पहले धर्म, और मोक्ष से पहले काम कुछ सोच कर ही रखे गए हैं। धर्म के अनुकूल काम (कामना अथवा कर्म) भी राम ही है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि।

—गीता 7-11

अर्थात्—हे अर्जुन, सब प्राणियों में धर्मानुकूल काम मैं ही हूँ। इन सब के पश्चात् भी साधक, सतोगुणी माया में फँस कर ज्ञान का अहंकार कर सकता है। अतः आगे इसी हेतु पांचवें प्रण की व्यवस्था है।

पाँचवाँ प्रण

मूल पद 9-5

इक दिन हट्टी बैठ सराफी गहणे नहीं बणा सकदा।
मुण्डा जे हो जाए मनीटर मास्टर नहीं अखवा सकदा।
आप जो अज स्कूले बैठै उसने सकणै की पढ़ा।
अपणा सबक जां पक्का हो जाए फेर किसे नूं लै पढ़ा।
भेद प्रभू दा खोल रिहां जो इस तो कदे वी डोलीं नां।
कहे अवतार एह पंजवां प्रण है हुकम बिना ए खोलीं नां।

हिन्दी काव्यानुवाद

रह के संग सुनार के इक दिन, गहने नहीं बना सकता।
बच्चा बन जाए मानीटर भी, शिक्षक नहीं कहला सकता।
आप आज तक पढ़ता ही जो, वह क्या पाठ पढ़ाएगा।
शिक्षा पूरी करके ही तो औरों को समझाएगा।
ब्रह्मज्ञान जो खोल रहा हूं इससे ध्यान हटाना ना।
पंचम प्रण अवतार यही, गुरु-आज्ञा बिन इसे बताना ना।

अर्थ—कोई व्यक्ति सुनार के साथ एक दिन रहकर ही आभूषण (गहने) नहीं बना सकता और विद्यार्थी चाहे (कितना भी मेधावी हो और) मानीटर भी बन जाए परन्तु (वह अपने आपको) शिक्षक तो नहीं कहलवा सकता (क्योंकि) जो स्वयं ही विद्यार्थी है, वह औरों को क्या विद्या सिखाएगा? हां, पूर्ण रूप से विद्या में निपुण होकर ही वह किसी को कुछ सिखा सकता है (इसीलिए हे जिज्ञासु तुम्हारे समक्ष) जो ब्रह्म का रहस्य अब (मेरे द्वारा) खोला जा रहा है, इससे कभी अपना ध्यान न हटाना (अर्थात् अब से सदा ब्रह्मनिष्ठ ही रहना) और गुरु-आज्ञा के बिना ब्रह्मविद्या का यह रहस्य किसी अन्य के समक्ष मत खोलना।

व्याख्या—इस पद के तीन प्रयोजन हैं—

1. अनाधिकारी (गुरु) द्वारा ज्ञान न दिया जाए।
2. अनाधिकारी (गुरु) माया-संचय आदि के लिए ज्ञान का दुरुपयोग न करे, ज्ञान

का अहंकार न करने लगे।

3. अनाधिकारी शिष्य को ब्रह्मज्ञान जैसी पवित्र विद्या न मिले, क्योंकि इससे समाज की हानि होने का भय है। अधिकारी गुरु (परम गुरु) ही जान सकता है कि कौन पात्र पराविद्या का अधिकारी है और कौन नहीं।

अब तीनों पर यहां अलग अलग विचार करेंगे।

1. (क) समाज में सात प्रकार के गुरु देखे जाते हैं—सूचक गुरु, वाचक गुरु, बोधक गुरु, निषिद्ध गुरु, विहित गुरु, कारण गुरु और परम गुरु। (देखिए गुरुगीता श्लोक 273 से 296) सूचक गुरु केवल शास्त्रों (ग्रंथों) की सूचना देता है और वाचक गुरु धर्म-अधर्म पर व्याख्यान दे सकता है। बोधक गुरु मन्त्र देता है और निषिद्ध गुरु मोहन, मारण, वशीकरण आदि तन्त्र-मन्त्र के विषय में बतलाता है। संसार के दुख और नश्वरता आदि को समझाने वाला गुरु 'विहित' और महामन्त्र का आदेश देकर सांसारिक रोगादि दूर करने वाला 'कारण गुरु' है। इन सबसे श्रेष्ठ परम गुरु होता है जो परमात्मा का अंग संग सर्वत्र दर्शन करा देता है अर्थात् ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति करा सकता है। चारों वेदों का एक-एक महामन्त्र मिल कर चार महामन्त्र कहलाते हैं—

अयमात्मा ब्रह्म	= यह आत्मा ही ब्रह्म है (अथर्ववेद)
प्रज्ञानं ब्रह्म	= ज्ञान ही ब्रह्म है (ऋग्वेद)
तत्त्वमसि	= वह ब्रह्म तू है (सामवेद)
अहं ब्रह्मास्मि	= मैं ब्रह्म हूं (यजुर्वेद)

वेद के इन महामन्त्रों का आदेश देने वाला गुरु भी कारण गुरु कहा गया है और इससे भी श्रेष्ठ यानी सर्वश्रेष्ठ गुरु तो परम गुरु ही होता है जो अहंकार शून्य और ब्रह्मनिष्ठ होता है। वही मुक्तिदाता हो सकता है।

(ख) गुरु का सबद गुरुथै टिकै
होर थै परगुट न होई

—आदि ग्रंथ, पृ० 1149

अर्थात्—'परम गुरु' का दिया ज्ञान ही शिष्य की सुरति में उहर सकता है अन्य का नहीं।

(ग) गुरु से ज्ञान प्राप्त करके ही कोई पूर्ण ज्ञानवान नहीं बनता और न ज्ञान देने का अधिकारी ही; क्योंकि ब्रह्मज्ञान के तीन सोपान हैं—

1. इसे (ब्रह्म को) जानना।
2. इसे जीवन में उतारना।
3. यही हो जाना। यह तीसरी अवस्था ही 'जीवन-मुक्ति' की अवस्था है और इसे प्राप्त करके ही कोई किसी पर परा विद्या की कृपा कर सकता है। ज्ञान के

पश्चात् ध्यान और प्रेम (भक्ति) आवश्यक है क्योंकि—

रामचन्द्र के भजन बिन जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवंत अपि सो नर पशु बिन पूछ विषान।।

—तुलसी का मानस

अर्थात्—प्रभु के ध्यान और भक्ति बिना ज्ञानी भी बिना पूछ और सींग का पशु ही है। वह किसी को ज्ञान क्या देगा ?

2. (क) ब्रह्म ज्ञान का आडम्बर कर धन हरण करने वाले गुरु सामाजिक हानि न कर सकें इसलिए भी इस पाँचवें प्रण की आवश्यकता अवतार वाणी में अनिवार्य रूप से समझी गई है।

(ख) गुरवो बहवः सन्ति शिष्य वित्तापहरीरकाः।
तमेक दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्।।

—गुरु गीता—श्लोक 269

अर्थात्—शिष्यों का धन हरण करने वाले गुरु तो बहुत हैं परन्तु शिष्य के दुःख को दूर करने वाला एक गुरु भी दुर्लभ है।

हरहिं शिष्य धन शोक न हरई।
ते गुरु घोर नरक महँ परई।

—मानस

अधकचरे गुरुओं को इसी प्रकार के घोर नरक से बचाने के लिए भी इस पाँचवें प्रण की व्यवस्था है।

3. परम गुरु अथवा जीवन मुक्त महात्मा ही जान सकता है कि ब्रह्मविद्या का कौन अधिकारी है और कौन नहीं ? अनाधिकारी को ब्रह्मज्ञान न देने की शास्त्राज्ञा भी है।

(क) इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रुषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।°

—गीता, 18-67

अर्थात् हे अर्जुन, तुझे यह ज्ञान उस व्यक्ति पर कभी प्रकट नहीं करना चाहिए जो तपस्या और भक्ति से हीन हैं और इसे सुनने की इच्छा नहीं रखता। नास्तिक और गुरु को साधारण मनुष्य मानने वाले के समक्ष भी यह ब्रह्मविज्ञा कभी कहनी नहीं चाहिए।

(ख) विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपायें मा शेषधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्यामप्त।।

—निरुक्तम् 2-4

अर्थात्—यह बात प्रसिद्ध है कि सत्य असत्य का विवेक कराने वाली ब्रह्म विद्या ब्रह्मज्ञानियों के पास आकर कहने लगी कि मैं (ब्रह्म विद्या) तुम्हारी निधि हूँ। मेरी

नास्तिकों से रक्षा करो। निन्दक, ईर्ष्यालु, इन्द्रियाधीन (भोगों में लिप्त) असावधान और कपटी मनुष्यों को मेरा ज्ञान मत दो। केवल अधिकारियों को ही मुझे दो, जिससे मैं बलवती होऊँ (वीर्यवती स्याम)।

इस प्रकार यह पांचवां प्रण विचारणीय और शास्त्र सम्मत है। इसके बाद जिज्ञासु के चित्त की भूमि ज्ञान का बीज बोने के लिए उपयुक्त हो जाती है। अतः अब ब्रह्मानुभूति करने हेतु दसवें पद में दसवें द्वार अथवा ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति का विधान आगे किया गया है।

निराकार ब्रह्म का ज्ञान

मूल पद 10

बंदे ऊपर वेख जरा एह सूरज चन्द सितारे ने।
चमक इन्हां दी मुकणी इक दिन मिट जाणे एह सारे ने।
हेठां वेख जमीं अग पाणी तिन्नां दा विस्तार बड़ा।
इक दिन एहने वी नहीं रहणा दिस्टै जो संसार खड़ा।
वायु जीव आकाश विचाले सूक्ष्म रूप है जिन्हां दा।
सदा लई एह मिट जाणा ए जोड़ जो जुड़यै तिन्हां दा।
एह नाँ चीजां दृष्टमान ने जिसनूं कहन्दे माया ए।
दसवां ब्रह्म एहना तो न्यारा एहना विच समाया ए।
एह सभो कुछ मिट जाणा ए बाकी कुछ नहीं रहणा यार।
कह अवतार है एहो सब कुछ इसनूं ही कहंदे 'निरंकार'।

हिन्दी काव्यानुवाद

मानव! ऊपर देख जरा ये सूरज-चांद-सितारे हैं।
इनकी चमक मिटेगी इक दिन मिट जाने ये सारे हैं।
नीचे देख घरा-जल-अग्नि तीनों का विस्तार बड़ा।
इक दिन इनको भी नहीं रहना, दीखे जो संसार खड़ा।
गगन पवन हैं जीव बीच में सूक्ष्म रूप है तीनों का।
नाशवान इनको भी जानो जोड़ जुड़ा जो तीनों का।
ये नौ वस्तु दृश्यमान हैं जिनको कहते माया हैं।
दशम ब्रह्म है इनसे न्यारा इनके बीच समाया है।
यह सभी कुछ मिट जाना है, बाकी कुछ नहीं रहना यार।
कहे अवतार यही सब कुछ है कहते इसको ही निरंकार।

अर्थ : हे मानव (मुमुक्षु), ऊपर जो सूर्य, चन्द्रमा और सितारे दिखाई देते हैं, इनकी चमक और ये भी सब नाशवान हैं। नीचे भी तीन तत्व-पृथ्वी जल और अग्नि जिनका बड़ा विस्तार है और जिनसे सारे संसार की रचना हुई है, ये भी नाशवान हैं। मध्य में तीन सूक्ष्म

तत्त्व (माया के रूप) हैं, जिनके नाम वायु, जीव और आकाश हैं। ये तीनों भी नाशवान हैं और इन तीनों का तारतम्य क्षण भंगुर हैं। यहां बतलाई गई ये नौ वस्तुएं दृष्टमान (गोचर) हैं, जिन्हें माया कहा जाता है। दसवां ब्रह्म (अविनाशी तत्त्व) इनसे विलक्षण (न्यारा) होकर भी इन्हीं के बीच में समाया हुआ है। माया तो क्षण भंगुर होने के कारण नाशवान हैं, परन्तु यह अविनाशी तत्त्व ब्रह्म (जिसे लोग कुछ नहीं मानते हैं) ही सब कुछ हैं। इसको ही महात्मा निरंकार (निराकार) कहते हैं।

व्याख्या : यह अवतार वाणी का दसवां पद, दसवां द्वार (ब्रह्म पद) का प्रतिपादन करता है। अतः पूरे ग्रन्थ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस पद का अवतार वाणी में वही स्थान है जो गीता में ग्यारहवें अध्याय का है। इसमें युगपुरुष ने अत्यन्त संक्षिप्त, सरल और वैज्ञानिक विधि से ब्रह्म-निरूपण किया है, यानी नाशवान माया से अविनाशी ब्रह्म को अलग प्रकट करके देखने का तरीका बतलाया है। परन्तु स्मरण रहे कि यह ब्रह्मज्ञान प्रकट करने का सिद्धान्त मात्र है। इसके साथ गुरु द्वारा व्यावहारिक ज्ञान (प्रयोग) अलग है। यानी इस सिद्धान्त, गुरु-कृपा और जिज्ञासु के अन्तःकरण की तड़प (वैराग्यपूर्ण जिज्ञासा) इन तीनों से ही किसी को ब्रह्मनुभूति (हरि दर्शन) होती है। यह बात दूसरी है कि गुरु की इसमें केन्द्रीय भूमिका होती है।

इसके अनुसार माया दो तरह की है—स्थूल माया और सूक्ष्म माया। स्थूल माया के छह भेद किए गए हैं, जिनमें सूरज, चांद, सितारे यह तीन ऊपर और पृथ्वी, जल, अग्नि, ये तीन नीचे बतलाए गए हैं। सूक्ष्म माया तीन प्रकार की बीच में है, जिनके नाम हैं आकाश, वायु और जीव। साथ ही हर प्रकार की माया को परिवर्तनशील, क्षणभंगुर और नाशवान कहा गया है।

ऊपर सूरज, चांद, सितारे कह कर पूरे ब्रह्माण्ड का चित्रण किया गया है क्योंकि ब्रह्माण्ड के अरबों खरबों असंख्य सितारे वैज्ञानिकों द्वारा तीन वर्गों में ही विभाजित किए गए हैं। ग्रह (सितारे), उपग्रह (चांद) और नक्षत्र (सूर्य)। वैज्ञानिक यह भी मान चुके हैं कि सूर्य आदि नक्षत्रों की चमक दिन प्रति घटती जा रही है और ये एक दिन ठण्डे अवश्य होंगे। इन तीनों में नक्षत्र से ग्रह और ग्रह से उपग्रह बनते हैं।

इसी प्रकार नीचे माया के तीन रूप अग्नि, जल और पृथ्वी बतलाए हैं, उनमें भी अग्नि से जल और जल से पृथ्वी बनी है। यह सांख्य दर्शन का नियम है। इन्हीं से सभी साकार वस्तुओं का निर्माण बतला कर इनकी व्यापकता और विशालता की चर्चा युगपुरुष ने की है।

मध्य के तीन सूक्ष्म माया स्वरूपों—गगन, पवन और जीव में भी आकाश से वायु का निर्माण (सांख्य प्रक्रिया द्वारा) होता है। जीव प्रभु का अंश होते हुए भी अज्ञानावस्था में जड़वत ही है, जो सूक्ष्म शरीरों और कारण शरीरों के साथ भटकते रहते हैं और 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' के चक्र पर चढ़े चौरासी लाख योनियों में ध्रुव उधर घूमते रहते हैं।

जीव के सूक्ष्म और कारण शरीरों का प्रतिपादन वेदान्त दर्शन के ग्रन्थों में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। माया के तीनों स्वरूपों के लिए 'सूक्ष्म' शब्द का प्रयोग करके इन्हें भी 'दृष्टमान' इसलिए कहा गया है कि ये आकृतिहीन होकर भी अनुभव तो होते हैं अतः अगोचर नहीं, गोचर ही हैं (गोचर = इन्द्रियों या मन का विषय)।

युगपुरुष ने इस पद में प्रकृति को 9 भागों में विभाजित किया है, जिनमें 5 तो महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) हैं और चार—सूरज, चांद, सितारे और जीव जोड़कर 9 किये हैं।

जीव को यद्यपि ईश्वर का अंश कहा गया है, फिर भी यह अहंकारयुक्त होने के कारण जड़वत् प्रकृति का ही अंश है। प्राचीन ग्रन्थों में अहंकार को माया में ही गिना गया है और गीता में भी 'अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (गीता 7-4) में भी अहंकार को प्रकृति में ही शामिल किया गया है। युगपुरुष ने इस 'अहंकार' को ही जीव कहा है, क्योंकि अहंकार न हो तो जीव कहाँ, फिर तो ब्रह्म ही ब्रह्म है।

सूरज, चांद, सितारे भी माया ही हैं, जिनकी चमक ब्रह्म से ही उत्पन्न है। गीता में भी प्रभास्मि शशिसूर्ययोः (गीता 7-7) कह कर सिद्ध किया गया है कि इनकी चमक भी अपनी नहीं। अन्यत्र भी कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/14

अर्थात् ये सूर्य चन्द्र और तारे आदि प्रकाशित पदार्थ ब्रह्म नहीं, बल्कि ब्रह्म की शक्ति से प्रकाशित हैं। अतः माया हैं, इसीलिए सूरज, चांद, सितारों को प्रकृति में सम्मिलित करना शास्त्रसम्मत और समझाने की दृष्टि से सरल है। इसीलिए माया को उपर्युक्त 9 भागों में विभाजित किया गया है।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि गीतादि ग्रन्थों में प्रकृति को 'अष्टधा' (आठ प्रकार की) या त्रिगुणमयी कहा गया है, फिर अवतार वाणी में इसे 9 प्रकार की क्यों कहा गया? परन्तु गीता के जिस श्लोक (7-3) में अपरा प्रकृति को आठ प्रकार की कहा गया है और उससे आगे के श्लोक (7-5) में भगवान् ने अपनी एक और प्रकृति 'परा' नाम से कही है। इस प्रकार भी प्रकृति 9 प्रकार की ही गीता को मान्य है। तीन माया के गुण हैं, प्रकार नहीं। देखिये गीता (7-12)। इस प्रसंग में गीता और वेद के कुछ मन्त्र यहां उद्धरित करने अधिक समीचीन होंगे—

नवद्वारे पुरे देही हँ सोलेलायते बहिः।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।

—श्वेताश्वरतरोपनिषद 3-18

पुण्डरीक नवद्वार त्रिमिगुणेभिरावृतम्।

—अथर्व वेद 10-8-43

नवद्वारे पुरे देही नैवं कुर्वन्न कारयन्।।

—गीता (5-13)

इन तीनों मंत्रों में से दो में नौ द्वारों वाला शहर (पुर) कहा है और एक में नौ द्वारों वाला कमल (पुण्डरीक) कहा है, जहाँ ब्रह्म एवं उसकी माया रहते हैं। क्या ऐसे नगर को, जहाँ विराट ब्रह्म और विशाल माया रहते हों, मानव-तन तक ही सीमित समझना उचित है, जो कि अनेक टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है। ब्रह्म और माया के अन्दर अनेक उन जीवों के शरीर भी हैं, जिनमें नवद्वार नहीं होते, अथवा वे जड़ पदार्थ पत्थर आदि भी तो हैं, जिनमें एक भी द्वार नहीं होता। फिर मनुष्य के शरीर में भी 9 ही क्यों, असंख्य द्वार होते हैं, जिनसे पसीना बाहर निकलता है। उपनिषद के उपर्युक्त श्लोक का 'बहिः' शब्द सिद्ध करता है कि ये नौ द्वार बाहर भी हैं। इसीलिए युगपुरुष ने प्रकृति को 9 भागों में विभाजित करके बाहर भी माया के नौ द्वार बतलाए हैं और इसके बाद 10वें द्वार, यानी ब्रह्म की स्थिति है जो अवतारवाणी के इस दसवें पद में स्पष्ट की गई है। 10वें पद में ही दसवें द्वार (ब्रह्म) का प्रतिपादन करना सौन्दर्यवर्द्धक है।

इस प्रकार अवतार वाणी का यह पद दार्शनिक दृष्टि से भी शास्त्र सम्मत है और अन्य संतों के अनुभव के अनुरूप ही है। पांच तत्त्वों की उत्पत्ति को सब ही माया में मानते हैं—

अगन गगन पावक जल धरनी।

माया से पैदा अस बरनी।।

एक नगर जिसमें नवदर हैं।

गुप्त एक दर दसवाँ घर है।

भरे जहाँ इमरत के सर हैं।

एक धाम दिन रात का।

समझेगा विरला कोई।

जो लखे हमारी बात का।

गुन-अर्थ चतुर नर सोई।।

—संत गंगा दास

मूल पद 27

घर दस्सां मैं की साहिब दा कर न सक्के जीभ ब्यान।
 अरबां नाद करोड़ां बाजे राग एहदे दर तरले पान।
 भैरवी एत्थे गिद्धा पाए नच नच गाउंदा ए मलहार।
 देवी देव रबाबी एहदे धर्मराए ने छोहे तार।
 अठसठ तीरथ किकली पांदे परियां छेड़े सुर ते तान।
 गावण सिद्ध समाधी बैठे गावण पण्डित शोख सुजान।
 तू एं सच्चा साहिब मेरा नां तेरा सचियाई ए।
 जिन्हां सतगुरु पूरा लभा रमज उन्हां ने पाई ए।
 जो कुछ है तूं आप स्वामी रचना खूब रचाई ए।
 कहे अवतार हौं सब का दासा सब तेरी बड़ियाई ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

घर बतलाऊं क्या साहब का कर नहीं सकती जीभ बयान।
 अरबों नाद करोड़ों बाजे इसमें अगणित राग औ तान।
 यहां भैरवी गिद्धा करती, नाच-नाच कर गाए मल्हार।
 देवी देव हैं बादक इसके यमराज बजाए तन्त्री तार।
 अड़सठ तीरथ क्रीड़ा करते परियां छेड़ें स्वर ओ तान।
 गावें सिद्ध शोख औ पण्डित बैठ समाधी चतुर सुजान।
 तू है सच्चा साहिब मेरा नाम तेरा सच्चाई है।
 जिनको पूरा सतगुरु मिलता सार उन्होंने पाई है।
 जो कुछ है तू आप हो स्वामी रचना खूब रचाई है।
 कहे अवतार मैं सबका सेवक सब तेरी प्रभुताई है।

अर्थ—महात्मा अवतार सिंह जी महाराज कहते हैं कि इस परमात्मा का घर (जिसे मैं देख रहा हूँ) ऐसा विचित्र है कि वाणी इसका वर्णन नहीं कर सकती, फिर मैं ही इसके विषय में क्या बतला सकता हूँ? इस निराकार प्रभु के अन्दर अरबों तरह की आवाज हो रही है, करोड़ों तरह के बाजे बज रहे हैं, असंख्य राग और तान इससे निकल रही हैं, भैरवी राग गिद्धा करके नाचता है, मल्हार नृत्य करता है और गाता है। प्रभु के इस निवास में देव-देवियां रबाब बजाते हैं और धर्मराज तंत्री के तारों को शंकृत करते हैं। अड़सठ तीर्थ

यहां क्रीड़ा करते हैं, परियां तान पर स्वर अलापती हैं, सिद्ध, शेष, पण्डित और संत यहां प्रभु का यश गान करते हैं और योगी यहां समाधिस्थ होते हैं। यह मेरा प्रभु परमात्मा सच्चा है और सत्यता भी इसी का नाम है। परमात्मा का रहस्य उन्हें ही मिलता है जिन्हें सौभाग्यवश सद्गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है। समस्त संसार के जड़-चेतन-रूप में तू आप ही विराजमान है। अपने आप अनेक रूपों में प्रकट होकर तूने संसार की बड़ी विचित्र रचना की है। तेरी इस प्रभुता को देखकर ही मैं सबका सेवक हूं और तू जड़ चेतन रूप विराट प्रभु मेरा स्वामी है।

व्याख्या—इस पद में वाणीकार ने अपने अनुभव के आधार पर परमात्मा के विराट रूप का वर्णन किया है कि अनेक नाद (आवाजें) करोड़ों वाद्य यन्त्रों की ध्वनियां, अनेक राग रागिनियां भैरवी मल्हार आदि और अनेक प्रकार के नृत्य भी इस प्रभु के अन्दर हैं। यानी परमात्मा इन सब की सीमाओं से भी आगे तक है, अनंत है। अर्थात् निरंकार में ही सब कार्य हो रहे हैं! अनेक देव-देवियां, बाजे बजाकर इसी का कीर्तन करते हैं। सारे तीर्थ स्थल भी इसी में देखे जाते हैं। सिद्धों की समाधि, पण्डितों और शेषों की प्रभु-गुण-चर्चा भी इसी के लिए और इसी के अन्दर हो रही है। विश्व में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब इसी का स्वरूप है और गौरव है। यह स्वयं ही समस्त जड़-चेतन में विराजमान है।

जिन्हें भी अपने जीवन में परमात्मा के साक्षात्कार (अपरोक्षानुभूति) का सौभाग्य मिला है उन्होंने इसका अंत कहीं नहीं देखा और इसी प्रकार का वर्णन किया है। जैसे—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्र मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गयन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुर गणा देवाय तस्मै नमः।

अर्थात् ब्रह्मा वरुण इन्द्र रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों द्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, सामवेद के गाने वाले अंग, पद, क्रम और उपनिषदों के सहित वेदों द्वारा जिसका गायन करते हैं, योगीजन ध्यान में स्थित तद्गत हुए मन से जिसका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिसके अंत को नहीं जानते उस (निराकार परमात्मा) देव के लिए मेरा नमस्कार है।

यहां भी ऋषि का अनुभव इसी प्रकार है, जिसमें समस्त देव-देवियां और वेदादि ग्रंथ प्रभु का यश गान करते हैं। योगी भी मन के द्वारा (समाधि से) इसी का दर्शन करते हैं। इस संदर्भ में यह श्लोक भी दृष्टव्य है—

अमी हि त्वां सुरसंघा विशान्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि सिद्ध संघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

—गीता 11/21

अर्जुन विराट रूप के दर्शन करते हुए कहते हैं कि वे (सब) देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश करते हैं और कई भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आप के नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा ऋषियों और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। इसी प्रकार प्रभु के समक्ष देवों की ऐसी ही स्थिति का वर्णन करते हुए भी कहा गया है कि—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्म पाश्च।
गन्धर्व यक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥

—गीता 11/22

अर्थात् ग्यारह रुद्र और बारह सूर्य, आठ वसु (और) साध्यगण, विश्वदेव तथा अश्विनी कुमार और मरुद्गण तथा पितरों का समुदाय, गन्धर्व (गाने बजाने वाले देवता) यज्ञ, राक्षस और सिद्धगण समुदाय सब ही विस्मित हुए आपको देखते हैं।

जिस प्रकार का अनुभव विराट रूप-दर्शन के पश्चात् अर्जुन को (गीता अध्याय 11 के अनुसार) हुआ था, वैसा ही महात्मा अवतार सिंह जी को हुआ था। यही कारण है कि दोनों की अनुभूति में इतनी समानता है। दोनों ने ही प्रभु के समक्ष समस्त देव-देवियों को इस स्थिति में देखा है।

इसका अनुमोदन वेद की इन दो ऋचाओं से भी हो जाता है—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्क मर्किणः।
ब्रह्मणास्त्वा शतक्रत उद्वशमिव येमिरे॥

—ऋग्वेद, 1/10/1

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्वेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।

श्रण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः॥

—ऋग्वेद, 7/35/14

वेद की इन दोनों रचनाओं में भी यही कहा गया है कि गायत्री द्वारा देवों का समूह इस एक विराट प्रभु की ही स्तुति करता है और ये सब विस्मित हुए इसको देखकर विस्मित और शानन्दित होते हैं। महात्मा कबीर का अनुभव भी ऐसा ही है—

रस गगन गुफा में अजर झरै।

बिन बाजा झंकार उठे जहं समुझि परै जब ध्यान धरै॥

बिना ताल जहां कमल फुलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।

बिन चन्दा उजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजर परै॥

—भजन संग्रह (गीता प्रेस) पृ० 98

देखिए दोनों संतों के आत्मानुभव में कितनी समानता है कि कबीर 'बिन बाजा झंकार उठे' कहते हैं तो अवतार सिंह 'अरबां नाद करोड़ों बाजे' की ध्वनि सुनते हैं। जिन महात्माओं को अनहद नाद का अनुभव हुआ है, वे इसे भलीभाँति समझ सकते हैं। आत्म साक्षात्कार के पश्चात् ध्यान की स्थिति में यही अनुभव होता है—

गगन गुफा के बीच देख जहाँ बजे ज्ञान का ढोल।

सुन्न महल में बैठा जोगी। इन्द्रिय जीत रस पूर्ण भोगी।

लाख बेर जो प्रलय होगी। इसका आसन रहे अडोल॥ १॥

—संत गंगादास

इसलिए कहा जा सकता है कि अवतारवाणी का यह पद वाणी कार के आत्मानुभव वा ब्रह्मानुभूति से ही सम्बन्धित है, जो वेद के ऋषियों तथा कबीरादि संतों के, अनुभव से मिलता है। ब्रह्म का अनुभव (दर्शन) जिन्हें भी हुआ है, उनके अनुभव अधिकतर समान ही देखे जाते हैं।

अन्त में वाणीकार का यह कथन भी अपने अनुभव के आधार पर ही है कि यह ब्रह्मानुभूति गुरु-ज्ञान के पश्चात् ही सम्भव है। 'मोक्षमूलं गुरो कृपा' अर्थात् गुरु ज्ञान ही मुक्ति का मूल है—ऐसा शास्त्र का भी कथन है। (गुरु गीता 86)

इस संदर्भ में गुरु नानक का मत भी दृष्टव्य है। अवतार सिंह यह कहते हैं कि 'जिन्हें सतगुरु पूरा लभा रमज उन्हां ने पाई ए' तो नानकदेव जी भी बिलकुल यही बात कह चुके हैं—

गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन यह जुगति पिछानी।

नानक लीन भयो गोविन्द सों ज्यो पानी संग पानी।

—भजन संग्रह (गीता प्रेस) पृ० 180

मूल पद 29

कोई कहिन्दै तिन देवतयां मिल दुनियां सकल बनाई ए।
 ब्रह्मा विष्णु ते शिव तिन्ने जिन्हां हथ खुदाई ए।
 इक बणाई सृष्टि सारी इक रोजी पहुँचांदा ए।
 तीजा देखे करनी सब दी मौत दी गेड़ीं पांदा ए।
 सच पुच्छे जे दुनिया मैत्थों हुक्म इक दे पलदी ए।
 जिहां जिहां हुक्म करे एह ओदां ओंदां चलदी ए।
 सभ नूं देखे भाले एहो हर जी दे बल ध्यान धरे।
 आप बैठ के परदे ओहले अकलां नूं हैरान करे।
 ऐसे नूं परनाम ने मेरे ऐसे नूं आदेस वी ए।
 कह अवतार एह पाक अनादि जुग जुग इक्को बेस वी ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

कोई कहता है त्रिदेवो ने सृष्टि सकल बनाई है।
 ब्रह्मा-विष्णु शंकर जी के सारी हाथ खुदाई है।
 एक बनाई सृष्टि सारी इक रोजी पहुँचाता है।
 तीजा देखे करनी सबकी मौत सभी की लाता है।
 सच पूछे जो दुनिया मुझसे हुक्म एक के पलती है।
 जैसे-जैसे हुक्म करे यह वैसे-वैसे चलती है।
 सबको देखे भाले ये ही सब जीवों का ध्यान करे।
 आप रहे परदे के अन्दर बुद्धि को हैरान करे।
 इसको मेरी नमस्कार है इसका ही है ध्यान सदा।
 अवतार कहे यह पाक अनादि युग युग एक समान सदा।

अर्थ—कुछ लोगों का मत है कि सारी सृष्टि का निर्माण (और प्रबन्ध) तीन देवों के द्वारा किया जा रहा है, जिनमें ब्रह्मा निर्माता है, विष्णु पोषक है और शंकर संहारक तथा निरीक्षक है। मेरे विचार से तो सच यह है कि इस विश्व का पोषण और प्रबन्धादि एक परमात्मा के द्वारा ही हो रहा है। इसके संकल्प मात्र से ही सारी दुनिया चल रही है। यही सबकी देखभाल करता है और प्रत्येक जीव का ध्यान करता है। (निराकार होने के कारण) स्वयं परदे में (अदृश्य) रहकर सबकी बुद्धि को चकित करता है। महात्मा अवतार सिंह

कहते हैं कि यह परम पवित्र, अनादि और युग-युग (त्रिकाल) में एक रस रहने वाला ब्रह्म ही सब कुछ करने वाला है। अतः मैं इसी को नमस्कार और इसी का ध्यान करता हूँ।

व्याख्या— त्रिदेवों (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) की मान्यता भी मायाजनित होने के कारण किसी भी वेदांत के व्याख्याकार को स्वीकार नहीं, क्योंकि एक ही चेतन तत्त्व से (संकल्प के आधार पर) यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न पोषित और विलीन होता रहता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रों का विचार भी दृष्टव्य है—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वास्तथा भूत विशेष संधान।
ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थ-
मृषीश्च सर्वानुरंगांश्च दिव्यान्।।

गीता 11/15

अर्थात् हे देव (अथवा सद्गुरु) आपके शरीर में सभी देवों, भूत समुदायों, कमल के आसन पर ब्रह्मा, शंकर, ऋषियों और दिव्य सर्पों को देखता हूँ। यानी सभी देव निराकार परमात्मा के अन्दर ही अन्य संसार की तरह माया अथवा अज्ञान से कल्पित हैं।

(2) अथर्ववेद 10-7-22 के अनुसार 'हे जीवात्मन, जिस परमात्मा के विराट् स्वरूप में सारे देव और जगत, लोक लोकान्तर स्थित हैं, उसको ही ब्रह्म कह।

(3) अध्यात्म रामायण (युद्ध काण्ड श्लोक 57) के अनुसार महादेव कहते हैं— 'हे राम अनेक ईश्वरवादियों को आप एक ही ब्रह्मा, महादेव और विष्णु के तथा काल, कर्म, चन्द्रमा और सूर्य के भेद से अलग अलग से भासते हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आप वास्तव में हैं एक अद्वितीय ब्रह्म ही है।

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णु स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः
(आप ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और शिव हैं)

आद्यशंकराचार्यः विवेक चूड़ामणि, 389

उमा दारु जोषित की नाई।
सबहि नचावत राम गोसाई।
जग पेखन तुम देखनहारे।
विधि, हरि, संभु नचावन हारे।

—मानस

(शंकर जी कहते हैं कि हे पार्वती, जैसे पुतलीगर परदे में रहकर सभी पुतलियों को नचाता है, इसी प्रकार एक राम ही सारी सृष्टि को नचा रहे हैं और उन नाचने वालों में त्रिदेव (विधि-हरि-संभु) भी हैं।)

इसका अर्थ है कि त्रिदेव भी माया में ही हैं और वेदान्ती के लिए तो 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।' अर्थात् एक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

योगवशिष्ट नामक विख्यात ग्रंथ में भी वशिष्ट जी राम जी को समझाते हुए कहते हैं "हे राम, जिस पदार्थ को मन देखता है, वह पदार्थ पहले कोई नहीं, चित्त के चेतने से उदय होता है। जब चित्त चेता कि यह पदार्थ है, तब आगे पदार्थ हुआ। चित्त (मन) यदि स्फूर्ति (संकल्प-विकल्प या सोच-विचार) से रहित होकर देखे, तो कोई पदार्थ नहीं भासित होता। हे राम, तुम अहंकार का त्याग करके इस नाना प्रकार की कल्पना से रहित निर्विकल्प ब्रह्म-पद में स्थित हो। अहंकार नाम रूपात्मक है और देह तथा वर्णाश्रय में माया से कल्पित है। जब अहंकार से रहित होकर देखोगे, तब केवल सच्चिदानन्द आत्मपद शेष रहेगा। और जब उस पद को अपना रूप जानोगे तब तुम्हीं सर्वात्म होकर विचारोगे और तुम को कोई दुख न रहेगा। हे राम, मन ही संसार है (और त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश की स्थिति भी मिथ्या संसार में ही है) ब्रह्मा से कीट पर्यन्त सब मन की ही रचना है। मन ही सुमेरु है और मन ही तृण है। मन ही विश्वरूप होकर स्थित हुआ है।"

महाकवि गिरधर दास भी अपनी एक कुंडलिया में यही भाव प्रकट करते हुए कहते हैं—

'राम' तुही तुही 'कृष्ण' तुहि देवन को देव ।
 तुही 'ब्रह्मा', 'शिव', 'शक्ति' तूही सेवक तूही सेव ।
 तुही सेवक तुही सेव तुही 'इन्द्र' तूही 'शेषा' ।
 तूही होइ सब रूप कियो सबमें परवेसा ।
 कह 'गिरधर' कविराय पुरुष तू ही तुही वामा ।
 तुही 'लछमन' तुही 'भरत', 'शत्रुघ्न', 'सीतारामा' ।

गिरधर की कुण्डलियां, 97

तू (आत्म तत्त्व) ही राम, कृष्ण, देवों का देव, ब्रह्मा, शिव, शक्ति, सेवक सेव्य, इन्द्र, शेष नाग आदि होकर सब में प्रवेश करके सर्व रूप होता है। स्त्री और पुरुष भी तेरे ही रूप हैं। तू ही त्रेता में राम, लक्ष्मण, भारत, शत्रुघ्न और सीता के रूप में प्रकट हुआ था। यानी समस्त देवी देवता एक चेतन तत्त्व अथवा निरंकार के ही रूप हैं—

यही बात वेद के ऋषि ने इस प्रकार कही है—

एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति

अर्थात् सत्य तो एक है, परन्तु विद्वानों ने उसे बहुत प्रकार से कहा है।

—ऋग्वेद 2.3; 23, 6

इसके अतिरिक्त श्री योग वशिष्ट भाषा, द्वितीय भाग (प्रकाशक तेजकुमार बुक डिपो, लखनऊ), पृष्ठ 19 पर वशिष्ट जी राम जी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि "हे राम, जो कुछ प्रपंच (जगत) तुमको भासता है, सो सब अविद्या रूप है, कहीं अविद्या जलरूप हुई है, कहीं पहाड़, कहीं नाग, कहीं देवता, कहीं दैत्य कहीं पृथ्वी, कहीं चन्द्रमा, कहीं सूर्य,

कहीं तारे, कहीं तम, कहीं प्रकाश, कहीं तेज, कहीं पाप, कहीं पुण्य, कहीं स्थावर, कहीं मूढरूप, कहीं अज्ञान से दीन और कहीं ज्ञान से आप ही क्षीण हो जाती है, कहीं तप-दान आदि से क्षीण होती है, कहीं नरक में लीन है कहीं स्वर्ग-निवासी है, कहीं देवता होती है, कहीं कृमि (कीट) होती है, कहीं विष्णु-रूप होकर स्थित हुई है, कहीं ब्रह्मा होकर स्थित है, कहीं रुद्र है, कहीं अग्नि रूप है, कहीं पृथ्वी रूप हुई है और कहीं आकाश व कहीं भूत भविष्यत् और वर्तमान हुई है। हे राम जो कुछ देखने में आता है वह सब महिमा इसी (अविद्या अथवा माया) की है। ईश्वर से तृण पर्यन्त सब अविद्या रूप है। जो इस दृश्य जाल से अतीत है, उसको आत्म लाभ जानो।”

इससे भी यही सिद्ध है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी माया जनित हैं और संसार की भांति ही असत्य हैं। मूल तत्त्व एक परब्रह्म ही है।

इस प्रकार अवतार वाणी की यह मान्यता शास्त्र सम्मत और वेदानुकूल है।

मूल पद 58

साध दी संगत जे कर मिल जाए मिट जांदे ने काले दाग।
 साध दी संगत जेकर मिल जाए मन दी बीणा छेड़े राग।
 साधु होन्दै जेहड़ा सच्चा तिन गुणां तो दूर करे।
 साधु होन्दै जेहड़ा सच्चा चानण थी भरपूर करे।
 साधु होन्दै असगाह सागर जिसदा आद ते अंत नहीं।
 साधु दी बड़ियाई ऐन्नी जिसदी कोई गणत नहीं।
 साधु दी बड़ियाई बड़्डी साधां आख सुणाई ए।
 कह अवतार रब साधु अन्दर हुन्दा भेद न राई ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

साधु की संगति जो मिल जाए मिट जाते हैं काले दाग।
 साधु की संगति जो मिल जाए मन की वीणा छेड़े राग।
 साधु होता है जो सच्चा, तीन गुणों से दूर करे।
 साधु होता है जो सच्चा, दिव्य ज्योति भरपूर करे।
 साधु होता है सिन्धु अपरिमित आदि अंत का छोर नहीं।
 साधु के गुण अगणित इतने चले गणित का जोर नहीं।
 अमित प्रशंसा साधु की किंचित संतों ने गाई है।
 अवतार कहे करतार-संत में भेद न होता राई है।

अर्थ : यदि किसी सौभाग्यशाली व्यक्ति को साधु की संगति मिल जाती है तो मन पर लगे काम, क्रोध, लोभ मोहादि के काले दाग मिट जाते हैं और उसके मन की वीणा अनहद नाद के द्वारा झंकृत हो उठती है। जो सच्चा संत होता है वह जिज्ञासु को तीन गुणों (सतो गुण, रजो गुण, तमो गुण) से पार कर देता है (त्रिगुणातीत परमात्मा का दर्शन करा देता है) और हृदय को अलौकिक प्रकाश (ज्ञान-रोशनी) से भर देता है। संत ऐसा अथाह सागर होता है, जो आदि और अन्त से भी परे है। संत के अगणित गुणों की प्रशंसा भी अपरिमित है। (ग्रन्थों में) संत की महान प्रशंसा ही संतों द्वारा सुनाई गई है। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि (ज्ञान दृष्टि से) संत और परमात्मा में राई भर (तनिक) भी भेद (अन्तर) नहीं होता।

व्याख्या—इस पद में तीन दावे किए गए हैं— 1. सत्संग ही मन की मैल दूर करता

है। 2. सच्चा संत ही त्रिगुणातीत ब्रह्म-दर्शन करा सकता है और 3. संत भी ब्रह्म की भाँति अनादि और अनंत होते हैं। अतः संत और हरि में तनिक भी भेद नहीं होता अथवा राम और संत एक हैं।

1. सत्संग ही मन की मैल दूर कर सकता है। यह अध्यात्म की निर्विवाद मान्यता है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

मुद मंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथ राजू।

—मानस 1-2-8

मज्जन फल पेखिअ तत्काला।
काक होहि पिक बकउ मराला।

—मानस 1-3-1

सठ सुधरहि सत्संगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई।

—मानस 1-3-9

सत्संग ऐसा तीर्थराज है जिसमें स्नान करके कौवे कोयल और बगुले हंस हो जाते हैं। पापियों के पाप समाप्त हो जाते हैं गुरु रूप पारस, पापी रूप लोहे को, संत रूप सोना बना देता है।

2. सच्चा संत ही त्रिगुणातीत करके ब्रह्म दर्शन कराता है। भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि—

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः।

—गीता 2-45

अर्थात् हे अर्जुन, वेदादि ग्रंथ तीनों गुणों (रज, तम, सत) को ही विषय करने वाले हैं। अतः तू त्रिगुणातीत हो। त्रिगुणातीत होने पर तत्त्वदर्शी संत की कृपा से ही ब्रह्म जाना जा सकता है। इसका उल्लेख भगवान कृष्ण ने गीता में इस प्रकार किया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

—गीता 4-34

अर्थात् त्रिगुणातीत प्रभु को तत्त्व से जानने के लिए किसी तत्त्वदर्शी संत को सेवा से प्रसन्न करके प्रश्न द्वारा और नमस्कार द्वारा प्रार्थना करनी चाहिए। तभी इस परम तत्त्व को जाना जा सकता है।

इसी प्रसंग में अवतार वाणी यह भी कहती है कि संत की महिमा का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं। इसका अनुमोदन मानसकार ने इस प्रकार किया है—

विधि हरि हर कवि कोविद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी।

—मानस 1-3-11

अर्थात् संत के गुणों का वर्णन करने में तो ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, कवि, पण्डित, और सरस्वती तक संकोच में पड़ जाते हैं। यानी इनके गुणों का पूर्ण रूप से वर्णन नहीं कर सकते।

3. 'राम और संत एक हैं' को सिद्ध करने के लिए भी 'जानिअ संत अनंत समाना' आदि उक्तियां शास्त्रों में अनेक स्थानों पर दृष्टिगत होती हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वामैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

—गीता 7-18

यानी, सब ही मेरे भक्त उदार हैं, परन्तु ज्ञानी संत तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है (ऐसा) मेरा मत है क्योंकि वह मेरे में ही भली प्रकार स्थित है।

यही भाव वेद में भी इसी प्रकार कहा गया है—

एते शमीभिः सुशमी अभूवन् ये हिन्विरे तन्वः सोम उक्थैः।
नृवद्वदन्नुप नो माहि वाजान्दिवि श्रवो दधिषे नाम वीरः॥

—ऋग्वेद 10-28-12

अर्थात्, जो मेरे भक्त अपने देह को परमात्मा में प्रार्थना से अर्पण कर देते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं। हे ज्ञानी, तू तो इन सब में सर्वश्रेष्ठ होकर ज्ञान बल को धारण करता है। तू मुझे वरने योग्य होकर भी मेरे प्रकाशमान लोक में यशयुक्त नाम को धारण करता है।

संत और राम की एकता का अन्य संतों ने भी मण्डन किया है—

जानो जानो जगत में भाग्य उन्हीं के सार।
संत संग में मन लगे तजे मान हंकार।
तजे मान हंकार करे तन-मन-धन सेवा।
भव-सागर से पार करे पल भर में खेवा।
गंगादास कहूँ राम-संत में भेद न मानो।
सब सुखदायक सदा संग संतों का जानो।

—संत गंगादास की कृण्डलियां से।

इस प्रकार इस पद की समस्त मान्यताएं धर्म ग्रन्थों एवं संत वाणियों के अनुसार ही लोक कल्याण के लिए युग-पुरुष द्वारा प्रतिपादित की गई हैं।

मूल पद 62

सत्गुरु हुन्दा जग दा दाता जो एह चाहे कर सकदा ए।
पत्थर दिल वी इस दी छोह नाल भवसागर तों तर सकदा ए।
सत्गुरु दाता दर आयां दी झोली छिन विच भर सकदा ए।
अक्खां तों झट परदा लाह के नूरी चानण कर सकदा ए।
नाम दा दारू दे के सत्गुरु सभे रोग गंवां देंदा ए।
अवतार गुरु जे पूरा होवे छिन विच राम मिला देंदा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

सत्गुरु होता जग का दाता जो वह चाहे कर सकता है।
पत्थर दिल भी उसके छूने से, भवसागर तर सकता है।
सत्गुरु दाता द्वार पड़े की झोली छिन में भर सकता है।
आंखों से परदे को हटा कर दिव्य उजाला कर सकता है।
नाम संजीवन बूटी देकर सारे रोग जला देता है।
अवतार गुरु जो पूरा होवे छिन में राम मिला देता है।

अर्थ—समय का सद्गुरु सारे ब्रह्माण्ड का मालिक होता है और अपने संकल्प मात्र से जो चाहे कर सकता है। इसके स्पर्श (कृपा) मात्र से पत्थर दिल यानी कठोर व्यक्ति भी संत बनकर भव सागर से पार अर्थात् मुक्त हो सकता है। इसके द्वार पर चाहे जो आ जाए, उसी की नाम धन से झोली भर देता है। श्रद्धालु की आंखों से माया का पर्दा तुरंत हटा कर उसे दिव्य प्रकाश (ब्रह्मानुभव) प्रदान करता है। यह ऐसी 'नाम की औषधि' देता है, जिससे सभी रोग (दैहिक-दैविक-भौतिक ताप) समाप्त हो जाते हैं। यदि सद्गुरु सच्चा और पूर्ण है तो वह वियोग से तड़पती हुई आत्मा को एक क्षण में राम से मिला देता है अर्थात् दिव्य नेत्र प्रदान करके परमात्मा की तुरंत अपरोक्षानुभूति करा देता है।

व्याख्या—(1) अर्जुन को भगवान् कृष्ण के मुखारविन्द से जब नाम धन की प्राप्ति हुई तो वे कह उठे—

पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यश्वधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः॥

—गीता 11-43

अर्थात्—हे भगवान्, तू इस जड़, चेतन रूप जगत का पिता, पालक, पूज्य और सद्गुरु है। हे अतुल प्रभाव वाले श्रीकृष्ण, तीनों लोकों में जब तेरे बराबर कोई वस्तु नहीं तो फिर तुझ से अधिक (बड़ा) कौन हो सकता है?

(2) प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा घाता दधातु सुमनस्यमानः।

—अथर्व वेद 7-20-1

अर्थात् जड़ चेतन सृष्टि का पिता और पालक (प्रजापति) इस सृष्टि को उत्पन्न करता है। बड़ा गुरु (धाता) होने से सब संसार का धारक और पोषक परमात्मा सब के साथ समता रखता है।

(3) त्रेता में राम द्वारा पत्थरों के पानी पर तैरने का प्रतीकार्थ स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि समय का सद्गुरु 'पत्थर दिल' (दुर्जन) को भी 'मक्खन दिल' (संत) बना देता है जिससे ये पत्थर दिल भी भवसागर को तर जाते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

(4) 'छिन विच राम मिला देंदा ए' की इस उक्ति पर शंका करते हुए बहुत से व्यक्ति कहते सुने गए हैं कि लम्बे समय तक राधना किए बिना भला भगवान् क्षण में कैसे मिल सकता है? उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि जैसे जन्म क्षण में, मृत्यु क्षण में होते हैं और वर्ष तथा शताब्दियां भी एक क्षण में ही बदल जाती हैं, उसी प्रकार संत-कृपा से आत्म-ज्ञान भी क्षण में ही होता है। ऐसे प्रमाण शास्त्रों में भी मिलते हैं—

तदाचार्य प्रसादेन वाक्यार्थ ज्ञानतः क्षणात्।

देहेन्द्रिय मनःप्राणाहङ्कृतिभ्यः पृथविस्थितम्।

स्वात्मानुभवतः सत्यमानानन्दात्मानद्वयम्।

ज्ञात्वा सद्यो भवेन्मुक्तः सत्यमेव मयोदितम्।

—अध्यात्म रामायण, 4-3-30 तथा 31

अर्थात्—(राम तारा से कहते हैं) गुरु-कृपा द्वारा वाक्यों के अर्थ ज्ञान से तथा स्वयं अपने अनुभव से भी यह अपने अद्वितीय आत्मा को देह, इंद्रियां, मन, प्राण और अहंकारादि से पृथक् जानकर एक क्षण में ही तुरंत मुक्त हो जाता है। हे तारे, मैंने यह वास्तविक सत्य तुझ से कह दिया।

इस प्रकार स्वतः सिद्ध है कि सद्गुरु की कृपा से पापी की भी क्षण में मुक्ति संभव है। यह कथन अवतार वाणीकार के अपने अनुभव और शास्त्रों की मान्यता पर आधारित है।

मूल पद 78

बिन देखे मन मनदा नहीं एं बिन मन मन्ने प्यार नहीं।
प्यार बिना नहीं भगती ते बिन भगती बेड़ा पार नहीं।
गुरु दिखावे गुरु मनावे गुरु ही प्यार सिखांदा ए।
बिन गुरु भगती मूल न होवे जो करदा पछतांदा ए।
सत्गुरु पासों बंदा जो अविनाशी दी पहचान करे।
अवतार गुरु दी नजर सवल्ली छिन अन्दर कल्यान करे।

हिन्दी अनुवाद

बिन देखे मन नहीं मानता, बिन मन माने प्यार नहीं।
प्यार बिना भक्ति नहीं कुछ, बिन भक्ति बेड़ा पार नहीं।
गुरु दिखावे, गुरु मनावे, गुरु ही प्रेम सिखाता है।
बिन गुरु, भक्ति मूल ना होवे, जो करता पछताता है।
सद्गुरु के चरणों में जन जो अविनाशी की पहचान करे।
अवतार गुरु की कृपा-दृष्टि, पल भर में कल्यान करे।

अर्थ—जब तक परमात्मा को देखा न जाय अर्थात् इसकी अपरोक्षानुभूति न की जाय, तब तक मन को विश्वास नहीं होता, जब तक विश्वास नहीं होता, तब तक प्रभु से प्यार सम्भव नहीं। प्यार के बिना भक्ति और भक्ति के बिना नैया पार नहीं होती। सद्गुरु ही परमात्मा के दर्शन कराता है, वही मन में विश्वास भरता है और वही प्रेम की शिक्षा प्रदान करता है। अतः गुरु के बिना भक्ति सम्भव नहीं और जो ऐसी भक्ति करता है, उसे बाद में पछताना ही पड़ता है। सद्गुरु की कृपा से जो व्यक्ति अविनाशी प्रभु की पहचान कर लेता है, उसका कल्याण पल भर में हो जाता है, क्योंकि गुरु की करुणापूर्ण दृष्टि उसका उद्धार कर देती है, ऐसा युग पुरुष अवतार सिंह का मत है।

व्याख्या—कुछ लोग कहते हैं कि निराकार परमात्मा देखा नहीं जा सकता, परन्तु यह उचित नहीं। जैसे साकार शरीर में निराकार बुद्धि थर्मामीटर की आंख से देख लिया जाता है, अथवा निम्ननिया स्टेथिस्कोप के नेत्र से देख लिया जाता है, उसी प्रकार गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान से ही कण कण में परमात्मा देखा जाता है। देखने के पश्चात् ही मन की शंका समाप्त होती है और विश्वास उत्पन्न होकर प्रेम पैदा होता है। शंका और अविश्वास प्रेम के शत्रु हैं। इनके रहते प्रेम सम्भव नहीं। शंका और अविश्वास की

समाप्ति, प्रभु-दर्शन से ही होती है। आदि शंकराचार्य इसे इस प्रकार समझाते हैं—

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना
पश्यात्मतत्त्वं स्फुट बोधचक्षुषा।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः
पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते।

अर्थात् समाधि के द्वारा भली प्रकार निश्चल चित्त और विकसित ज्ञान-नेत्रों से इस आत्मतत्त्व को देखो, यदि सुना हुआ पदार्थ निःसन्देह होकर भली प्रकार देख लिया जाता है तो उसके विषय में फिर कोई संशय नहीं रहता।

—विवेक चूड़ामणि, 475

प्रभु के प्रति शंका-समाप्ति होने से विश्वास बढ़ने लगता है और फिर प्रेम का श्रीगणेश होता है। यह प्रेम ही प्रगाढ़ होकर भक्ति बनता है और इस भक्ति के द्वारा ही मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

इससे सिद्ध होता है कि भक्ति के सारे ताने बाने का आधार गुरु ही है; क्योंकि गुरु से प्रभु-दर्शन, दर्शन से विश्वास, विश्वास से प्रेम, प्रेम से भक्ति और भक्ति की शक्ति से ही लक्ष्य प्राप्ति होती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के अनुसार—

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिन परतीत होइ नहि प्रीती।
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।
कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिअ।

—मानस 7-89

अर्थात् गुरु-ज्ञान के बिना मानव का भक्ति अथवा लक्ष्य-प्राप्ति का प्रयत्न करना ऐसा ही है, जैसे बिना पानी के नाव चलाने का प्रयत्न करना अथवा पानी से शरीर को चिकना करने का प्रयास करना, जो असम्भव है। इसी भाव को अपने अनुभव और शास्त्रों के आधार पर युगपुरुष ने कहा है कि जो गुरु के बिना ही भक्ति करने का प्रयास करते हैं, उन्हें बाद में पछताना पड़ता है।

(2) इस पद में गुरु की करुणापूर्ण कल्याणकारी दृष्टि का महत्व भी अंत में प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि इससे पल भर में जिज्ञासु का कल्याण हो जाता है।

वास्तव में संत की दृष्टि मात्र से निर्बल भी बलवान और पापी भी पुण्यात्मा होकर मुक्त हो जाते हैं—

तुलसी राम सुदीठि से निबल होयँ बलवान।

बैर बालि-सुग्रीव के कहा कियो हनुमान।

—दोहावली

अर्थात्—राम (गुरु) की करुणापूर्ण दृष्टि पड़ने से निर्बल भी बलवान हो जाते हैं, जैसे हनुमान जी हो गए थे जो बालि-सुग्रीव के पुराने बैर में कुछ न कर सके थे।

बालि-सुग्रीव का बैर बड़ा पुराना था और हनुमान जी भी सुग्रीव के सेवक पहले से ही थे। बालि रोज सुग्रीव को मारता था और सुग्रीव भयभीत होकर पर्वत पर रहता रहा, परन्तु हनुमान कोई सहायता अपने स्वामी सुग्रीव की न कर सके थे। राम की सुदृष्टि पड़ने से उनमें इतनी शक्ति आई कि वे 'महावीर विक्रम बजरंगी' कहलाये। भगवान राम ने अपनी वानर सेना का बल भी अपनी दृष्टि डाल कर ही बढ़ाया था—

देखी राम सकल कपि सेना।

चित्तइ कृपा करि राजिव नैना।

राम कृपा बल पाइ कपिन्दा

भए पच्छजुत मनहुं गिरिन्दा।

—मानस 5-35-2

अर्थात्—राम की कृपा दृष्टि से वानर इतने बलवान हो गए, जैसे पंख वाले बड़े पर्वत हों।

(3) गुरु ज्ञान से पल भर में जिज्ञासु का उद्धार हो जाता है, उसमें भी कोई सन्देह नहीं। बड़े-बड़े ऋषि मुनियों द्वारा हजारों वर्ष तप करने पर भी प्रभु दर्शन नहीं हुआ और न मुक्ति हुई, इसे भी हम अस्वीकार नहीं करते, क्योंकि अपने प्रयत्न से हजारों तो क्या लाखों वर्ष कर्मकाण्ड में उलझे रहने से भी प्रभु नहीं मिलते। हरि-गुरु-कृपा से जब यह होता है, क्षण में ही होता है क्योंकि 'अचिरेण अधिगच्छति' ऐसा गीता का वचन है अर्थात् प्रभु दर्शन में देर नहीं लगती। अन्यत्र भी कहा गया है कि 'प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार सागर से उद्धार करने वाला होता हूँ।' (गीता 12-7)

संत कबीर का अनुभव भी यही है कि गुरु-कृपा से देर नहीं लगती—

सतगुर की महिमा अनैत द्योहाड़ी कै बार।

जेहि मानुष ते देवता, करत न लागी बार।

उपर्युक्त उदाहरणों और विवेचना से स्वतः सिद्ध है कि अवतार वाणी का यह पद अत्यन्त भावपूर्ण और शास्त्र सम्मत है।

मूल पद 83

मुंहों साबण साबण कहन्दा कपड़ा इकं वी धोंदा नहीं।
 लक्खां साल हनेरा ढोया कदे चानणा होंदा नहीं।
 नुसखा पढिये बार बार जे रोग कदे नहीं हट सकदा।
 सोना सोना कहके कोई कौड़ी इक नहीं खट सकदा।
 रोटी रोटी कहके मिटदी कदी किसे दी भूख नहीं।
 सुख दियां गल्लां बातां करके दूर हुन्दा कोई दुख नहीं।
 मंजिल ते खड़ 'मंजिल मंजिल' मंजिल तों अंजान करे।
 छिन विच पुजदै मंजिल ते, जो मंजिल दी पहचान करे।
 रस्ता नहीं पहचान बिना मिलने दा सर्वव्यापी नूं।
 ऐ पर इस नूं जानण वाला तार वी सकदै पापी नूं।
 रब्ब मिलने दे साधन दस्से जो पहचान करांदा नहीं।
 ओह साधु या संत नहीं कोई उस तों मुक्ति पांदा नहीं।
 जो परतख दिखावे रब्ब नूं ओहो मुरशद पूरा ए।
 कहे अवतार गुरु पूरे बिन जो तकिया सो ऊरा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

मुख से साबुन साबुन कहके एक भी कपड़ा धोता नहीं।
 लाखों साल अंधेरा ढोकर कभी चान्दना होता नहीं।
 बारंबार पढ़े यदि नुसखा रोग कभी भी जाता ना।
 सोना सोना कहके कोई कानी कौड़ी पाता ना।
 मिटती रोटी रोटी कहके कभी किसी की भूख नहीं।
 सुख की बातें कहने भर से दूर तो होता दुःख नहीं।
 मंजिल पर रह 'मंजिल मंजिल' मंजिल से अनजान करे।
 पल में मंजिल पर पहुंचे जो मंजिल की पहचान करे।
 पहचान बिना ना कोई मार्ग, मिलने का सर्वव्यापी को।
 लेकिन इसको जानने वाला तार भी सकता पापी को।
 हरि मिलने के साधन कहता जो पहचान कराता ना।
 वह साधू या संत नहीं कोई उससे मुक्ती पाता ना।

जो प्रत्यक्ष दिखावे हरि को वह ही सद्गुरु पूरा है।
कहे अवतार बिना गुरु पूरे सारा जगत अधूरा है।

अर्थ—महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि जिस प्रकार मुख से 'साबुन' शब्द कहने मात्र से कपड़े नहीं धुलते, उसी प्रकार राम राम का जप करने से ही मुक्ति नहीं मिल जाती। जिस प्रकार घर में उजाला (प्रकाश) करने के लिए पहले अंधेरा ढोकर बाहर डालना आवश्यक नहीं, बल्कि प्रकाश आने पर अंधकार स्वयं समाप्त हो जाएगा (उसी प्रकार) ज्ञान के लिए भी अज्ञान अथवा काम क्रोध लोभादि को समाप्त करना आवश्यक नहीं, बल्कि ज्ञान होने पर ये पापादि कर्म स्वयं समाप्त हो जाएंगे। जैसे नुस्खे का पाठ करने मात्र से बीमारी दूर नहीं होती उसी प्रकार ग्रंथों के पाठादि करने से अज्ञान दूर नहीं होता और ज्ञान का स्वास्थ्य नहीं मिलता। जिस प्रकार 'स्वर्ण स्वर्ण' कहकर कौड़ी भी हाथ नहीं लगती उसी प्रकार प्रभु का नामोच्चारण करने मात्र से 'नाम धन' नहीं मिल जाता। जैसे 'रोटी रोटी' कहने से भूख नहीं मिटती, वैसे ही राम (हरि) की बातें करने मात्र से दुख (मायासक्त) दूर नहीं होते। यदि कोई (अज्ञानी) मंजिल (लक्ष्य) पर खड़ा हो और पूछ रहा हो कि 'मंजिल कहाँ है' तो समझना चाहिए कि यह मंजिल से अनभिज्ञ है। लक्ष्य की पहचान होने पर वह स्वयं समझ लेता है कि मैं तो लक्ष्य पर ही हूँ इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान होने पर जिज्ञासु को अनुभव होता है कि मैं तो अन्दर बाहर ब्रह्म से ही घिरा हूँ। सर्वव्यापी परमात्मा से मिलने का गुरु-ज्ञान के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं।

ब्रह्म निष्ठ, ब्रह्म श्रुत, पूर्ण सद्गुरु ब्रह्म-ज्ञान प्रदान करके पापी का भी उद्धार कर सकता है (मुक्त कर सकता है)। जो ढोंगी गुरु हरि से मिलने के साधन (जप, तप, मन्त्रादि) तो जिज्ञासु को बतलाए, परन्तु अंग संग निराकार प्रभु की पहचान न कराए तो समझ लेना चाहिए कि वह संत नहीं, बल्कि स्वयं अज्ञानी है। ऐसे अज्ञानी को गुरु बना कर कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्ण सद्गुरु तो वह है, जो ब्रह्म का साक्षात् दर्शन (अपरोक्षानुभूति) करा दे। ऐसे पूर्ण सद्गुरु के बिना पूर्ण ब्रह्म नहीं मिलता और सारा जगत अपूर्ण (ब्रह्महीन) ही (प्रतीत) होता है।

व्याख्या—आजकल आध्यात्मिक क्षेत्र में जो अज्ञानी तथाकथित गुरुओं और मिथ्याचारी तथाकथित महात्माओं ने भ्रांतियाँ पैदा कर रखी हैं, उनकी ओर वाणीकार ने स्पष्ट संकेत किया है, जिससे समाज इनके कुचक्रों से बच सके। अतः यह पद युगपुरुष ने शुद्ध सामाजिक और परोपकार पूर्ण भावना से प्रकट किया है।

(1) राम राम करने से मुक्ति नहीं मिलती—इस संदर्भ में शंकराचार्य का मत द्रष्टव्य है—

बाह्य शब्दैः कृतो मुक्ति रुक्ति मात्र फलैर्नृणम्।

—विवेक चूड़ामणि, 65

अर्थात् केवल बाह्य शब्दों से, जिनका फल उच्चारण मात्र ही है, मनुष्यों की मुक्ति कैसे हो सकती है?

(2) लकड़ा साल हनेरा ढोयां—इसमें एक अंतर्कथा है। किसी अंधविश्वासी गांव में लाखों वर्षों से यह रीति चली आ रही थी कि सब गांव वाले रात को तीन बजे उठकर, टोकरे ले लेकर, अंधेरा भरु भर कर गांव से बाहर डालते थे और तीन घण्टे कठिन परिश्रम करके समझते थे कि हमने सारा अन्धेरा बाहर फेंक दिया है, इसीलिए प्रकाश हो गया है, जबकि प्रकाश सूर्यादय से स्वयं ही होता था। उस गांव की एक नवागता बधू को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मनादी करा दी कि कल कोई रात को उठकर अन्धेरा ढोने का परिश्रम न करे, क्योंकि वह (नवागता बधू) अकेली ही इस काम को कर देगी। सब आराम से सोये और छह बजे प्रातः प्रकाश देखकर बड़े प्रसन्न हुए और सारे गांव ने मिल कर उस नई आयी हुई बधू का अभिनंदन किया।

भाव यह है कि ज्ञान का प्रकाश होने पर अज्ञान का अंधकार (काम, क्रोधादि) स्वयं दूर हो जाते हैं क्योंकि 'कामादि खल दल गज्जनम्' तो राम ही हैं। और फिर—

जहां राम तहां काम नहीं, जहां काम नहीं राम।

तुलसी कैसे रहि सकै, रवि-रजनी इक ठाम।

—मानस

(3) नुसखा पढ़िये बार बार जे—धार्मिक ग्रंथों के पाठादि करना मुक्ति हेतु ऐसे निरर्थक हैं जैसे बीमारी दूर करने के लिए नुसखों को बार बार पढ़ना। दृष्टव्य है—

न गच्छति बिना पानं व्याधि रौषध शब्दतः।

विनापरोक्षानुभव ब्रह्म-शब्देन मुच्यते।

—आदि शंकराचार्य कृत विवेक चूड़ामणि, 64

अथवा औषधि के बिना पिये केवल 'औषध' शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल 'ब्रह्म ब्रह्म' करने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

तीन चीजें होती हैं—'शब्द', 'अर्थ' और 'पदार्थ'। जैसे 'काव' (COW) यह शब्द हुआ, इसका अर्थ हुआ 'गाय' और पदार्थ हुआ वह जो खोर पेछड़ी जुगाली कर रही है और अपने पुत्र बछड़े की तरफ प्यार से देख रही है। यदि दूध प्राप्त करना है तो पदार्थ तक जाना जरूरी है, केवल शब्द और अर्थ का ज्ञान होने से मुक्ति रूपी दूध नहीं मिल सकता, जब तक परम पदार्थ (प्रभु) का स्वरूप-ज्ञान न हो। यह ज्ञान गुरु द्वारा ही सम्भव है। ग्रंथों की सीमा शब्द-अर्थ तक ही है।

(4) 'सोना-सोना' 'रोटी-रोटी'—सोना सोना कहने से कोई धनी नहीं होता और रोटी रोटी कहने मात्र से किसी की भूख नहीं मिटती। इस प्रकार के उदाहरण 'नारद भक्ति सूत्र' के सूत्र सं० 31 और 32 में भी मिलते हैं—

राजगृह भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ 31 ॥

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ 32 ॥

अर्थात् केवल राजमहल का वर्णन सुनने और जान लेने से काम नहीं चलता। राजा धर्मात्मा है, शक्तिशाली है, प्रजा का हितैषी है, यदि यह बात भी जान ली तो इससे क्या लाभ ? जानने मात्र से राजा प्रसन्न थोड़े ही हो जाएगा। हलुआ मीठा और स्वादिष्ट होता है, यह जान लेने से ही क्या भूख मिट जाती है ? इसी तरह केवल शब्द से या अर्थ के ज्ञान से न तो भगवान प्रसन्न होते हैं और न हमें शांति ही मिलती है, जब तक प्रत्यक्ष अनुभव और प्रयोग न हो। संत वाणी भी इसका समर्थन करती है—

जो भोजन का भजन करै है।

रात दिना चाहे ध्यान धरै है।

बिन खाए क्या पेट भरै है?

—संत गंगादास

(5) पापी भी ब्रह्म ज्ञान से पवित्र हो जाता है—क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से अधिक पवित्र करने वाली (पतित पावन) वस्तु संसार में कोई है ही नहीं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—गीता 4-38

अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्सन्देह कुछ भी नहीं। इसका समर्थन वेद भी करते हैं—

त्वं पुरुण्या भरा स्वशव्या सेमिससै निवञ्च नाति शंसन्।

सुगेभिर्विंश्वा दुरिता तरेम विदो षुण उर्विया गाधमद्य।

—ऋग्वेद 10-13-10

अर्थात् गुरु के उपदेश की इच्छा करने वाला तू, गुरु से उपदेश में मिले वाक्यों की स्तुति करता हुआ, आत्म ज्ञान के बहुत से तात्त्विक विषयों को गुरु जी से ग्रहण कर, जिन तात्त्विक विषयों से मैं तुझे योग्य मानूँ। भली भाँति प्राप्त होने वाले ज्ञानों से सब पापों को तू और हम पार करें। आज इस ज्ञान मार्ग में भूझ से कहे हुए, गुंथे हुए वचन को, बहुत मान के साथ भली भाँति जान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवतारवाणी का यह पद वेद-शास्त्र-सन्मत और वाणीकार के आध्यात्मिक ज्ञान का परिचायक है।

मूल पद 89

फोल लवो इतिहास पुराणे हो गए वलियाँ पीरां दे।
 रुख बदले ने सद्गुरु ने ही ओहना दी तकदीरां दे।
 जिन्ने वी हो गुजरे अज तक अपने आप न पा सक्के।
 राम कृष्ण ते नानक तक वी खुद नहीं परंदा लाह सक्के।
 दुनियां नूं राह दसण दे लई सभ नूं रीत निभाणी पई।
 वलियां नूं वी जा गुर दर ते अपणी धौण झुकाणी पई।
 ज्ञान दी गड़डी दी अज तीकण सद्गुरु दे हथ डोर रही।
 अवतार कहे पर अन्हीं दुनिया ऐवें पांदी शोर रही।

हिन्दी अनुवाद

देखो तुम इतिहास पुराने पहले वलियों पीरों के।
 सद्गुरु ने ही रुख बदले थे उन सब की तकदीरों के।
 जितने भी हो गुजरे अब तक अपने आप न हरि पाए।
 राम कृष्ण औ नानक तक भी ना पर्दा आप उठा पाए।
 दुनिया को मार्ग दिखाने हित, मर्यादा-मार्ग निभाया था।
 अवतारों ने भी जा गुरु-दर पे अपना शीश झुकाया था।
 सद्गुरु के ही हाथ आज तक ज्ञान के रथ की डोर रही।
 अवतार कहे पर अंधी दुनिया यूं ही करती शोर रही।

अर्थ—पूर्ववर्ती महापुरुषों, अवतारों आदि के इतिहास देखने पर भी यही पता चलता है कि उनके सौभाग्य को भी सद्गुरु ने ही चमकाया था अथवा उन्नति की दिशा दी थी। जितने भी महापुरुष अब तक हुए हैं, वे भी अपने प्रयत्न से प्रभु-प्राप्ति नहीं कर पाए थे। राम जी, कृष्ण जी और नानकदेव जी माया का परदा अपने आप (सद्गुरु के बिना) नहीं उठा पाए थे अर्थात् उन्होंने भी गुरु धारण करके मायातीत प्रभु को प्राप्त किया था। संसार का पथ-प्रदर्शन करने के लिए उन्हें भी इस मर्यादा का पालन करना पड़ा था। अवतारों ने भी सद्गुरु के द्वार पर नमस्कार करके ही आत्म ज्ञान प्राप्त किया था। ज्ञान-रथ की रस्सी (या लगाम) आज तक सद्गुरु के ही हाथ में रही है, अर्थात् तत्त्वदर्शी महात्मा से ही जिज्ञासु को आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई है। इस बात को न समझने वाले, दुनिया के अनेक व्यक्ति इतने अंधे हो गए हैं कि व्यर्थ ही शोर मचाकर इसमें भ्रांत होकर शंका करते हैं।

व्याख्या—इस पद का मुख्य दावा यह है कि 'ब्रह्म ज्ञान' गुरु के बिना नहीं होता और अवतारी पुरुषों को भी गुरु से ही ज्ञान प्राप्त करने की मर्यादा का पालन करना पड़ा। जैसे—

- (क) राम के गुरु वशिष्ठ जी थे जिसका प्रमाण 'योग वशिष्ठ' ग्रंथ है।
- (ख) कृष्ण के गुरु संदीपन ऋषि थे, जिसके प्रमाण हिन्दु पौराणिक ग्रंथों में भरे पड़े हैं।
—स्वामी नरोत्तम दास कृत 'सुदामा चरित'।
- (ग) श्री गुरु नानक के गुरु संत रेण थे जिसके प्रमाण निम्नलिखित हैं—
- (i) नानक रेण संत जन संगत हर गुरु परसादी पाया

—आदि ग्रंथ, पृष्ठ 1038

(ii) प्रोफेसर गौतम पटेल, संस्कृत विभाग, सेंट झेवियर्स कालिज, अहमदाबाद द्वारा संपादित 'बाबा गुरदास मात्रा', चौपाई 16-21 पर लिखा है—

भए 'अतीत ऋषि' मुनि आगे।
'वेद ऋषि' तिनके बड़ भागे।
'संत रेण' मुनि पर उपकारी।
'गुरु नानक' तिनके अधिकारी।

इस पूरी शिष्य परम्परा में 36वें स्थान पर अतीत ऋषि, 37वें पर उनके शिष्य वेद ऋषि, 38वें पर उनके शिष्य संत रेण और 39वें स्थान पर उनके शिष्य गुरु नानक हुए। अर्थात्—

36—अतीत ऋषि
37—वेद ऋषि
38—संत रेण
39 नानक देव

(iii) डा. जगन्नाथ शर्मा का डी.लिट्. का शोध ग्रंथ 'उदासीन सम्प्रदाय के हिन्दी कवि और उनका साहित्य', पृष्ठ 71

(iv) भूदन ग्राम (मलेर कोटला, पंजाब) डेरे के संत कवि रेण (ये दूसरे रेण हैं) ने अपने महाकाव्य 'गुरु नानक विजय' (जिसकी पृष्ठ संख्या 1860 है और भारत सरकार ने लगभग दो लाख रुपये खर्च करके इसकी फोटो कापी कराई है, क्योंकि वर्तमान महंत इसे डेरे से बाहर ले जाने की आज्ञा नहीं देते) नामक ग्रंथ में पृष्ठ 410-411 पर लिखा है कि अपने पिता द्वारा व्यापार हेतु दिये गए रुपये श्री गुरु नानक देव ने संत रेण की सेवा में खर्च किये थे और उन्हें गुरु स्वीकार कर उपदेश ग्रहण किया था जिसका वर्णन प्रभाकर प्रैस, चौक पासिआन, अमृतसर से छपी पुस्तक Origin of the Udasin Sampradaya के पृष्ठ 18-19 पर इस प्रकार उपलब्ध होता है—

When Shri Guru Nanak Dev Ji asked him as to which Sadhu he was, then the Udasi Mahatma in answer to the question said like this:—

संत रेन मम नाम है, भेष उदासी जान।
उदासीन निर्वाण हंम, वन में रहे महान।
दे अहार अति प्रीति युत लिए सांच उपदेश।
गुरु नानक चित प्रेम सों धरा उदासी भेष।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि नानक देव उदासीन परम्परा के सनातनी हिन्दू संत थे।

(v) अवतार वाणी के इस दावे (कि गुरु बिन ज्ञान नहीं होता) का समर्थन स्वयं गुरु नानक जी की वाणी भी करती है—

(क) कह नानक गुरु बिन नहीं सूझे
हरि साजन सब के निकट खड़ा

—आदि ग्रंथ

(ख) पूरे गुरु का सुन उपदेश
पार ब्रह्म निकट कर पेखु

—आदि ग्रंथ, 295

इससे यह भी सिद्ध होता है कि नानक देव जी ज्ञान के लिए गुरु उपदेश का (गुरु मुखारविंद से) सुनना आवश्यक मानते हैं।

(ग) बिन सतिगुरु भेटे मुकुति न होई।

—आदि ग्रन्थ

'ज्ञान गुरु से ही हो सकता है' यह तो भारतीय संत मत की मूल भावना है। इसीलिए आदि ग्रन्थ में भी यही भाव अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है—

(i) भाई रे गुरु बिनु गिआन न होए। पूछहु ब्रह्मै नारदै बेदविआसे कोए।

—आदि ग्रन्थ, 59

(ii) गुरु सेवा आपि हरि भावै।
कृसनु बलभद्र गुरु पग लागि धिआवै।

—आदि ग्रन्थ, पृष्ठ 165

आदि ग्रंथ के उपर्युक्त उद्धरणों को पढ़ कर क्या कोई कह सकता है कि इनका उद्देश्य ब्रह्मा जी, नारद मुनि, वेद व्यास, कृष्ण भगवान, बलदेव आदि पूज्य महापुरुषों का अपमान करना है? निस्सन्देह नहीं। 'राम कृष्ण ते नानक तक वी खुद नहीं परदा लाह'

सकके' का भाव भी यही दर्शाना है कि ज्ञान के लिए गुरु अनिवार्य है। अवतार वाणी की यह पंक्ति भारतीय संत मत की मूल भावना के अनुरूप है। मेरे विचार से राम-कृष्ण की श्रेणी में नानक देव को रख कर महात्मा अवतार सिंह ने उनके सम्मान में वृद्धि की है और उन्हें सनातनियों का भी पूज्य बनाने का प्रयास किया है।

बिना गुरु ज्ञान आदि ग्रंथ के अनुसार भी नहीं हो सकता—

बिनु सतिगुर किनै न पाइओ।

बिन सतिगुर किनै न पाइआ।

—आदि ग्रंथ, पृष्ठ 466

(vi) इस संदर्भ में अन्य ग्रंथा की सम्मति जानना भी लाभदायक होगा, जिससे विदित हो कि 'ज्ञान गुरु से होता है' इस विषय में अन्य ग्रन्थ क्या कहते हैं—

(क) अथर्व वेद— 9/4/19 की यह ऋचा—

ब्रह्मणेभ्य ऋषभं दत्वा वरीयः कृणुते मनः।

पुष्टि सो अध्व्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते।।

अर्थात् तत्त्व ज्ञान का जिज्ञासु मुमुक्षु पुरुष ब्रह्म वेत्ता महापुरुषों को सबसे श्रेष्ठ मन को देकर अर्थात् अपने सावधान मन को गुरु उपदेश में लगा कर अपने मन को श्रेष्ठ या वरने योग्य करता है। वह पुरुष गुरु से ज्ञान को सुन कर अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करने वाली मन की वृत्तियों की पुष्टता को अपने मन में देखता है।

इस वेदवाणी से भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञान गुरु से ही होता है।

(ख) गीता का यह श्लोक भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

—गीता 4/34

अर्थात् हे अर्जुन उस ब्रह्मज्ञान को तू तत्त्वदर्शी जानियों के पास आकर उनको दण्डवत पणाम, उनकी सेवा और उनसे (ज्ञान विषयक) प्रश्न करके जान। ये (ज्ञानी लोग) तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।

गीता के अनुसार भी तत्त्वदर्शी संत अर्थात् गुरु से ही ज्ञान की उपलब्धि होती है।

(ग) रामचरित मानस की ये पंक्तियों भी इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं—

1. गुरु बिन भवनिधि तरे न कोई।

जो बिरंचि संकर सम होई।

—मानस 7/93/5

अर्थात् बिना गुरु के कोई भी ज्ञान प्राप्त करके संसार सागर से पार नहीं हो सकता,

चाहे वह ब्रह्मा और शंकर जी जैसा विद्वान क्यों न हो।

- (ii) गुरु बिन होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिन।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहहि हरि भगति बिन॥

—मानस 7/89

अर्थात् (शिष्य के) वैराग्य और गुरु बिना कभी ज्ञान नहीं हो सकता। वेद, पुराणों का यही मत है।

इससे स्वतः सिद्ध है कि वेदादि ग्रंथ भी डंके की चोट, घोषणा करते हैं कि गुरु से ही ज्ञान होता है।

(vii) शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर से 1956 में प्रकाशित 'भाई गुरदास जी के कवित-सवैये' के सम्पादक हरिभजन सिंह संत लिखते हैं कि (सिक्खों के) गुरु घर में भाई साहिब गुरदास जी का वही स्थान है जो हिन्दू धर्म में 'वेद व्यास' और 'शंकराचार्य' तथा ईसाई धर्म में 'सेंट पाल' का है। ऐसे महापुरुष की सम्मति भी इसी विषय में जाननी चाहिए। इस संदर्भ में भाई गुरदास जी का यह कवित उल्लेखनीय है।

सतगुरु सिक्ख रिदै प्रथम कृपा के बसै,
तां पाछे करत आज्ञा मना के मनावई।
आज्ञा मान ज्ञान गुरु, परम निधान दान,
गुरु मुख सुख फल निज पद पावई।
नाम निहकाम धाम सहज समाधि लिव,
अगम अगाध कथा कहित न आवई।
जैसे जैसो भाव हरि पूजत पदारविंद,
सकल संसार के मनोरथ पुजावई।

अर्थात् सतगुरु पहले कृपा करके शिष्य के घट में बैठते हैं, इसके बाद उसे 'उपदेश' करते हैं और अपनी दया दृष्टि से ही (ज्ञान को) उससे मनवा भी लेते हैं और फिर उस पर चला भी देते हैं। आदेश को मान कर शिष्य गुरु-ज्ञान की निधि का दान (नाम-धन) प्राप्त करता है और गुरु मुख होकर निज स्वरूप का सुख फल प्राप्त करता है। घर में ही रह कर निष्काम भाव से नाम में लीव (वृत्ति) लगाते हैं और 'सहज' में उनकी समाधि लग जाती है। उन (गुरु-शिष्य) की कथा अगम और अगाध है।

भाई गुरदास के अनुसार भी ज्ञान का प्रावधान यही है, अर्थात् गुरु उपदेश से ही यह मिलता है। बल्कि उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि गुरु के मुखारविंद से उपदेश सुन कर ही सिख गुरसिख बनता है। केवल 'गुरसिख' नाम रख लेने मात्र से कोई गुरसिख नहीं हो जाता। यदि मुखारविंद से उपदेश करने वाला गुरु न मिले तो कोई सिख (शिष्य) गुरसिख (गुरु का शिष्य) हो भी कैसे सकता है?

अतः अवतार वाणी का यह आलोच्य पद केवल यह सिद्ध करता है कि ब्रह्मज्ञान जिज्ञासु को सिर्फ गुरु की कृपा दृष्टि से होता है और इसीलिए अवतारी महापुरुषों, योगेश्वरों, पैगम्बरों आदि को भी यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्मज्ञानी गुरु (मुर्शिद) के चरणों में पहुंच कर नत मस्तक होने की मर्यादा का पालन करना पड़ा। 'रीति निभाने' का अर्थ यहां 'मर्यादा-पालन' है। उच्च कोटि के संत महापुरुष सदैव मर्यादा पालन करते ही हैं अतः वे 'निगुरा' बन कर भी मर्यादा भंग नहीं कर सकते। इसके सम्मान घटाने वाली बात तो तब थी यदि यह कहा जाता कि उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन किया, परन्तु ऐसा बाबा अवतार सिंह तो क्या, कोई भी सिद्ध संत नहीं कह सकता।

इस सन्दर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि अवतारवाणी ने राम, कृष्ण, गुरु नानक आदि अवतारी पुरुषों के लिए गुरु चरणों में पहुंचने को मर्यादा निर्वाह मात्र माना है। उन्हें गुरु चरणों में जाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि यही ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की निश्चित मर्यादा है और मर्यादा का निर्वाह उनके लिए ज्यादा आवश्यक है जिसको समाज में उस मर्यादा का उपदेश देना होता है।

मूल पद 93

धरती विच समाया भावें बेहिसाबा पाणी ए।
काठ दे तीले अन्दर लुक्की अग दी चाहे कहाणी ए।
जे पाणी न परगट होवे प्यास कदी नहीं बुझ सकदी।
परगट होवे जे न अग्नी कर रत्ती नहीं कुझ सकदी।
जे सुपने दी बेड़ी होवे पार लगांदी पूर नहीं।
दीवा जे न जगदा होवे हनेरा हुन्दा दूर नहीं।
होवे न प्रतख जे भोजन भूख पेट दी लहंदी नहीं।
साक्षात अवतार न होवे रब दी सोझी पैंदी नहीं।

हिन्दी काव्यानुवाद

धरती बीच समाया चाहे अतुल अनंता पानी है।
काष्ठ-खण्ड के अन्दर चाहे जितनी आग समानी है।
पानी प्रकट जो न होवे प्यास कभी ना बुझ सकती।
अग्नी भी यदि प्रकट न हो लाभ न कुछ भी कर सकती।
जो सपने की नौका होवे कोई न होवे पार कभी।
दीपक जब तक जले न घर में दूर न हो अंधकार कभी।
होवे न प्रत्यक्ष जो भोजन, भूख पेट की जाती नहीं।
साक्षात अवतार न होवे समझ राम की आती नहीं।

अर्थ—धरती के अन्दर यद्यपि अतुल पानी है परन्तु जब तक वह नल-कृणु आदि के द्वारा प्रकट न हो तो प्यास नहीं बुझ सकती। इसी प्रकार लकड़ी में यद्यपि सर्वत्र ताप रूप में अग्नि विराजमान है परन्तु जब तक वह प्रकट न हो (अथवा जले नहीं) तब तक खाना आदि बनाने में वह तनिक भी लाभदायक नहीं हो सकती। जिस प्रकार स्वप्न में देखी नौका से कोई पार नहीं हो सकता, जिस प्रकार दीपक जले बिना घर का अंधकार दूर नहीं हो सकता और जिस प्रकार भोजन खाए बिना केवल नाम लेने मात्र से पेट की भूख नहीं मिटती, इसी प्रकार जब तक सर्वव्यापी परमात्मा का साक्षात दर्शन (अपरोक्षानुभूति) न हो, तब तक राम का निर्मल ज्ञान (विमल विवेक) नहीं होता अर्थात् यह समझ में नहीं आता कि 'राम' नामक पदार्थ क्या है। ऐसा महात्मा अवतार सिंह का मत है।

व्याख्या—राम का ज्ञान अथवा विश्वास तीन तरह का होता है— 1. शास्त्र द्वारा,

2. गुरु द्वारा और 3. अपने आप द्वारा। जैसे 'गुड़ मीठा होता है' यह ज्ञान प्रथम प्रकार की प्रतीति (विश्वास) है जो शास्त्र द्वारा भी हो सकता है। इसके पश्चात् 'गुड़ दिखाना' यह गुरु द्वारा प्रतीति होती है इसके पश्चात् 'स्वयं गुड़ खाना' यह साक्षात् प्रतीति होती है जिसके बाद फिर व्यक्ति उसके आनंद को भूल नहीं सकता। इसी प्रकार 'राम सब जगह है' यह विश्वास तो सुनने मात्र से शास्त्र द्वारा भी हो सकता है, परन्तु यह साक्षात् अनुभव नहीं। गुरु-ज्ञान के द्वारा राम को अनुभव (Realise and Confirm) करना, यह भी गुड़ देखने के समान दूसरे प्रकार की प्रतीति है, साक्षात् यह भी नहीं। निराकार 'राम को कण-कण में देखना' और अपने जीवन को 'राममय बनाना' यह साक्षात् अथवा अपरोक्षानुभूति होती है, जो अपने आप द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार शास्त्र-कृपा, गुरु-कृपा और अपनी कृपा की तीन सीढ़ियों को पार करके निर्मल ज्ञान का साक्षात् अनुभव होता है। यह अनुभव (साक्षात्कार) इतना आनंद स्वरूप है कि शब्दों द्वारा पूर्ण रूप से कहने में नहीं आता।

अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी की 'होली मदर' कहा करती थीं कि ब्रह्म ज्ञान के तीन सोपान हैं—1. इसे जानना, 2. इसे जीवन में उतारना और 3. यही हो जाना।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान (अपरोक्षानुभव) को ही साक्षात्कार कहा जाएगा, किंचित कम को नहीं। यहां प्रतिशत (Percentage) नहीं चलती। जिसे यह साक्षात्कार होगा तो शत प्रतिशत होगा और नहीं होगा तो बिलकुल नहीं होगा। जैसे कोई कहे कि तार को थोड़ा सा जोड़ दें तो 100 वाट का बल्ब 40 वाट जितनी रोशनी तो दे ही देगा, यह सम्भव नहीं। बल्ब देगा तो पूरी रोशनी देगा या बिलकुल नहीं देगा। तार भी थोड़ा या अधिक नहीं जुड़ता। वह या तो जुड़ता है या हटता है। कम ज्यादा हटने की स्थितियां उसमें सम्भव नहीं। कोई रोशनी का नाम ले लेकर ही रोशनी करना चाहे, यह भी सम्भव नहीं।

इसलिए जो लोग 'प्रभु' के किसी नाम का जप करने को या शास्त्रों की कथाओं के सुनने या पढ़ने को ही ब्रह्म-साक्षात्कार मान रहे हैं, यह उचित नहीं, क्योंकि इससे न मुक्ति सम्भव है और न आनंद ही। ये सहायक तो होते हैं, पर ये लक्ष्य नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास का यह पद भी इसी भाव का समर्थन करता है—

अस कछु समुझि परत रघुराया।

बिन तव कृपा दयालु दास हित, मोह न छूटै माया।

वाक्य ग्यान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।

निसि-गृह-मध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्त नहि होई।

जैसे कोई इक दीन दुखित अति, असन हीन दुख पावै।

चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह लिखे न विपति नसावै।

षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैन बखानै।

बिनु बोले संतोष-जनित सुख, खाइ सोइ सोइ पै जानै

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकाश अरु, विषय आस मन माहिं।

तुलसीदास तब लगि जग जोनि भ्रमत, सपनेहु सुख नाहिं।

अर्थात् हे राम, कुछ ऐसा समझ पड़ता है कि हे दयालु, हे (गुरु रूप में) दास के हितैषी, बिना तेरी कृपा के जीव मोह माया से नहीं छूटता। परमात्मा के विषय में सुन्दर वाक्य बोलने वाला कोई भी भवसागर से पार नहीं होता। रात को घर में दीपक की बातें करने मात्र से ही अंधकार दूर नहीं होता। जैसे कोई भूखा यदि भूख से दुखी हो, तो तस्वीर के कल्प वृक्ष और चित्र की कामधेनु से उसका दुख दूर नहीं हो सकता। जैसे कोई व्यक्ति छह रसों के छत्तीस प्रकार के भोजनों का यदि रात दिन नाम ही लेता रहे या जोर-जोर से वर्णन करता रहे, तो उसे क्षुधा-तृप्ति का सुख नहीं मिलेगा, दूसरी ओर यदि कोई बिना बोले (चुपचाप) उसे खा लेता है, तो वह संतोष और आनंद प्राप्त कर लेता है। इसलिए जब तक (शास्त्र-कृपा और गुरु-कृपा के पश्चात् आत्म-कृपा के द्वारा) निराकार प्रभु का साक्षात्कार नहीं होगा, तब तक 84 का चक्र समाप्त होकर मुक्ति नहीं मिलती और व्यक्ति मायां (विषयों की आशा) में ही इधर उधर दौड़ता रहता है।

अन्यत्र भी कहा गया है-

बाह्यशब्दैः कुतोमुक्तिरुक्तिमात्र फलैर्नृणाम्।

-विवेक चूड़ामणि, 65

अर्थात्-निराकार प्रभु का साक्षात्कार किए बिना केवल बाहर के शब्दों के जिनका फल केवल उच्चारण मात्र है, मनुष्यों की मुक्ति कैसे हो सकती है? और भी-

विन परोक्षानुभवं ब्रह्म शब्देन मुच्यते।

-वही, 64

अर्थात्-साक्षात्कार-किये बिना केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म' शब्द कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

जैसे कोई किसी को बता दे कि यहां धन गड़ा है तो इसका लाभ सुनने वाले को तभी हो सकता है, जब वह उसे खोद कर अपने कब्जे में कर ले, घर ले जाय अथवा स्वीकार करके सुरक्षित रखे और फिर उसका सद्कार्यों में प्रयोग भी करे। इसी प्रकार गुरु द्वारा बताए गए ब्रह्म का तभी लाभ हो सकता है, जब जिज्ञासु अपने चिंतन और ध्यान द्वारा सदैव साक्षात्कार करे और उसे अपने आचरण (कार्यों) में भी प्रयोग करे।

गीता अध्याय 18 के श्लोक 20, 21 और 22 में भी ब्रह्म-ज्ञान की तीन कोटियां कही गयी हैं और भगवान् कृष्ण के अनुसार सात्त्विक ज्ञान (ब्रह्म साक्षात्कार) ही श्रेष्ठ है, राजस या तामस ज्ञान नहीं।

इस प्रकार अवतार वाणी का यह पद ब्रह्म के 'संकल्प ज्ञान' की अपेक्षा 'स्वरूप ज्ञान' पर शास्त्र सम्मत रीति से बल देता है। यही बात सात्त्विक ज्ञानी के विषय में ऋग्वेद 2-12-9 (यस्मान्न क्रते आदि) में कही गई है।

मूल पद 103

दुनियां ते मशहूर मुहब्बत जिद्दां चन्न चकोर दी ए।
 दुनियां ते मशहूर मुहब्बत जिद्दां फुल्ल ते भौर दी ए।
 बलदे दीपक नाल प्रीति जिद्दां है परवाने दी।
 गुर चरणां दे नाल प्रीति एद्दां सिक्ख दीवाने दी।
 मछली जिद्दां पाणी नूं इक पल दे लई न छोड़ सके।
 गुरु सिक्ख एद्दां मन अपणे नूं इक पल दे लई न मोड़ सके।
 रहे प्यासा जिवें पपीहा इक्को बूंद स्वांती लई।
 गुर सिक्ख दी अख रहे तरसदी सतगुर दी इक ज्ञाती लई।
 महिन्दी जिद्दां उमरा तीकर रंग न अपना छडु सक्के।
 कहे अवतार एह सिक्ख गुरु तों हो न एद्दां अडु सक्के।

हिन्दी काव्यानुवाद

दुनियां में मशहूर मुहब्बत जैसे चांद चकोरे की।
 दुनिया में मशहूर मुहब्बत जैसे फूल और भोरे की।
 दीप-शिखा-संग जैसी प्रीती होती है परवाने की।
 गुरु चरणों में ऐसी प्रीती होती शिष्य दिवाने की।
 जैसे प्रिय पानी को मछली पल भर भी न छोड़ सके।
 ऐसे ही भक्त गुरु से क्षण भर ना मुंह मोड़ सके।
 बिना बूंद स्वाती के जैसे सदा पपीहा प्यासा है।
 ऐसे ही गुरु की एक झलक की भक्तों को अभिलाषा है।
 मेहंदी जैसे आयू भर भी रंग न अपना छोड़ सके।
 कहे अवतार शिष्य गुरु ते ऐसे कभी न नाता तोड़ सके।

अर्थ—जैसे चन्द्रमा से चकोर का, फूल से भोरे का, शमा से पतंग का प्रगाढ़ प्रेम होता है, उसी प्रकार भक्त भी अपने गुरु-चरणों से प्रगाढ़ प्रेम करते हैं। जैसे मछली पानी के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकती, इसी प्रकार भक्त भी प्रभु के बिना पल भर भी नहीं रह सकता। स्वाति-बूंद के लिए जैसे चातक लालायित रहता है, उसी प्रकार भक्त भी प्रभु दर्शन की झलक मात्र के लिए तड़पता है। मेहंदी जिस प्रकार अपना रंग आयु पर्यन्त नहीं

ओड़ सकती, उसी प्रकार भक्त भी हरि-प्रेम का त्याग नहीं कर सकता, ऐसा अवतार सिंह रहते हैं।

व्याख्या—इस पद में भक्ति का वर्णन है और विविध उदाहरणों से यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति में भक्त के प्रेम की प्रगाढ़ता कैसी होती है। चन्द्र-चकोर, प-भ्रमर, शमा-परवाना, जल-मीन, चातक-स्वाती जल और मेहंदी-रंग से भक्त से [का अगाध प्रेम और अभिन्नता प्रकट की गई है।

भक्तों को अपने प्रेम की याद में रोने में भी आनंद आता है। सच तो यह है कि प्रभु प्रेमी अपने आंसू और स्मरण के द्वारा ही मिले रहते हैं। गोपियों की यह तड़प इसी प्रकार की है—

1. अग्नि सुत प्रीति करी जल सुत सौं सम्पुट माझ गह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं अपन शरीर दह्यौ।

—सूरदास

अर्थात् भंवरे ने फूल से प्यार किया तो स्वयं को संपुट में कैद करा लिया और पतंग ने पेड़ की शाखा में अपना शरीर जला लिया फिर भी प्रेम नहीं छोड़ा।

2. सिय राम स्वरूप अगाध अनूप,
विलोचन मीनन को जल ह्वै।

—तुलसी कवितावली

अर्थात् मेरी आंखें मछली की तरह प्रभु-रूप के जल में तैरती रहें।

3. चातक को तो तुलसी आदि कवियों ने प्रेम का आदर्श ही माना है। दोहावली में क-प्रेम के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने 34 दोहे लिखे हैं जिन्हें 'चातक चौतीसी' कहते हैं—

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।

एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

॥ प्रेम-प्रगाढ़ता तथा भक्ति की दृढ़ता के लिए प्रभु के पास या दूर रहने का कोई प्रभाव पड़ता, क्योंकि आदमी का मन जहाँ है, वहाँ वह उपस्थित, और जहाँ मन नहीं, वहाँ अनुपस्थित होता है—

चकोरी जलहरि बसै, चन्दा बसे अकास।

जो जिसको है भावता, सो ताही के पास॥

—कबीर

पास वाले रह गए और दूर वाले ले गए।

भक्ति में तो प्रेम का ही मर्म होना चाहिए।

—लेखक

मूल पद 116

सच्चे साधु संत हरि दे, इक्को गल फरमांदि ने।
 दाने वी जे छड़डन भगती सौ सौ गोते खांदि ने।
 यारो रब दी भगती कर लओ भगती दा फल पाओगे।
 साफ होवेगा दिल दा शीशा मन नूं पाक बनाओगे।
 पाक ते कोमल चरणां दा जे मन विच प्रेम बसाओगे।
 मैल धुलेगी जनम जनम दी निज घर वासा पाओगे।
 आप वी कर पहचान हरि दी होरां नूं वी नाम जपा।
 भुल्ल गई ए दुनियां सारी इस दुनियां नूं राहे पा।
 नाम है असली सच्ची दौलत एसे दा व्योहार करो।
 कहे अवतार तुसीं हर वेले तूही तूही निरंकार करो।

हिन्दी काव्यानुवाद

सच्चे साधु संत हरि के, एक ही बात बताते हैं,
 ज्ञानी भी यदि छोड़ें भगती, सौ सौ गोते खाते हैं।
 यारो, हरि की भक्ती कर लो, भक्ती का फल पाओगे।
 निर्मल होगा दिल का दर्पण, मन को पाक बनाओगे।
 पावन-कोमल चरणों का यदि मन में प्रेम बसाओगे।
 मल धुल जाए जन्म-जन्म का निज घर वासा पाओगे।
 आप भी कर पहचान हरि की, औरों को भी नाम जपा।
 भूल गई है दुनिया सारी दुनिया को सन्मार्ग दिखा।
 नाम है असली सच्ची दौलत इसका ही व्यवहार करो।
 कहे अवतार हर वक्त सदा तुम, तूही तूही निरंकार करो।

अर्थ—सच्चे साधु गुरु (हरि) के भक्त (संत-भक्त) अथवा प्रेमी होते हैं तथा औरों को भी एक ही बात समझाते हैं कि ज्ञानवान व्यक्ति भी यदि भक्ति छोड़ देता है तो पुनः माया में गोते खाने लगता है अथवा डूबने लगता है। वे सदा यही कहते हैं कि हे मित्रो, हरि की भक्ति कर लो, जिसके फलस्वरूप तुम्हारे दिल का दर्पण साफ हो जाएगा और मन भी अहंकार आदि विकारों से मुक्त होकर पवित्र हो जाएगा। सद्गुरु के पवित्र और कोमल चरणों का प्रेम यदि तुम्हारे हृदय में रहेगा, तो अनेक जन्मों के पाप और संस्कार नष्ट होकर

तुम अपने वास्तविक घर (हरि) में निवास करोगे। हे मित्रो, तुम स्वयं भी (सद्गुरु के चरणों से प्रेम करके) हरि की पहचान करो तथा औरों को भी इसकी प्रेरणा दो अथवा नाम से जोड़ो। आज सारी दुनिया भक्ति के विषय में भ्रमित हो रही है। अतः उसे सन्मार्ग दिखा। सच्ची सम्पत्ति तो हरि का नाम (नाम धन) ही है, इसी को व्यवहार में लाओ और 'इक तू ही निरंकार, इक तू ही निरंकार' कह कर सदा इसे याद करते रहो।

व्याख्या—(1) जो भौतिक माया से नहीं, बल्कि प्रभु से प्रेम करते हैं, वे ही सच्चे संत हैं। जैसा ये स्वयं करते हैं, वैसा ही उपदेश अन्य व्यक्तियों को देते हैं और समझाते हैं कि प्रभु की भक्ति इतनी आवश्यक है, कि उसे छोड़ कर ज्ञानी भी माया में फिसल सकते हैं, क्योंकि—

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।

ज्ञानवंत अपि सो नर, पशु, बिन पूँछ विषाण।

—तुलसी, मानस 7-78

अर्थात् ब्रह्म ज्ञानी भी यदि गुरुभक्त नहीं, तो वह मानव होकर भी बिना पूँछ और सींग के पशु तुल्य है, क्योंकि भक्ति के बिना ज्ञानी भी, कभी भी अधोगामी होकर पतन के गर्त में गिर सकता है। अन्यत्र भी कहा गया है—

विजित हृषि कवायुभिरदान्तमनस्तुरंग य इह यतन्ति यन्तु मति लोलुमुपायखिदः।

व्यसनशतन्विता समवहाय गुरोश्चरण वणिज इवाज सन्त्यक्त कर्णधरा जलधौ।।

—भागवत 10-87-33

'अर्थात् जिन योगियों ने अपनी इन्द्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी जब गुरुदेव के चरणों की शरण न लेकर, अति चंचल और उच्छृंखल अपने मन रूपी घोड़े को अपने वश में करने का यत्न करते हैं, तब अपने साधनों में सफल नहीं होते। उन्हें बार बार खेद और विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर व्यापार करने वालों की होती है।'

भागवत में वेदों के मुख से कहा गया यह कथन उन भ्रान्त व्यक्तियों की आंखें खोलने के लिए काफी है, जो स्वयं को प्रगतिवादी (एडवान्सड) मान कर गुरु की आवश्यकता ही नहीं समझते अथवा 'गुरुडम' कह कर उसकी अनावश्यकता बतलाते हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों का आधार गुरु ही है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान गुरु से होता है तथा तत्पश्चात् गुरु की तन, मन, धन से सेवा और समर्पण भक्ति कहलाती है, बशर्ते कि यह गुरु-सेवा ब्रह्म-भाव से की गई हो, व्यक्ति-भाव से नहीं।

(2) दिल का दर्पण गुरु भक्ति से ही निर्मल होता है। शास्त्रों में भी अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) रूपी शीशे को सद्गुरु की चरण धूल से ही साफ करने का विधान है—

श्री गुरुचरण सरोज रज निज मन मुकुर सुधार।

—मानस, 2 मंगलाचरण

(3) ज्ञान और भक्ति मूल रूप से यद्यपि एक है, परन्तु ज्ञान जब दृढ़ होते-होते प्रेम में परिणत हो जाए तो भक्ति बनती है। इसीलिए ज्ञान के पश्चात् भक्ति का स्वरूप सधता है। यही कारण है कि गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को निराकार ब्रह्म का ज्ञान कराके बारहवें अध्याय में भक्ति का उपदेश दिया गया। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की सुगमता बतला कर भगवान् कृष्ण ने उसकी आवश्यकता पर भी अधिक बल दिया है (गीता अध्याय 12 श्लोक 5 से 7)।

(4) युगपुरुष महात्मा अवतार सिंह जी भी ज्ञानवानों (दाने) को भक्ति छोड़ कर भटकने (सौ-सौ गोते खाने) की बात कह कर यही सिद्ध करते हैं कि सरल मार्ग छोड़ कर कठिन मार्ग पर चलने और कष्ट उठाने से क्या लाभ ? अतः ज्ञान को भक्ति तक पहुंचना ही चाहिए। क्योंकि—

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस न लागइ वारा।
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई।
सो कैवल्य परम पद लहई।
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
संत पुरान निगम आगम वद।
राम भजत सोइ मुकुति गुसाई।
अन इच्छित आवइ बरिआई।
जिमि थल बिनु जल रह न सकाई।
कोटि भाति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुन खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।
अस विचार हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने।

—मानस

इस प्रकार सयाने (दाने) लोग मुक्ति की इच्छा न करते हुए भक्ति की कामना करते हैं और मुक्ति उन्हें स्वयं ही मिल जाती है।

ज्ञान बिना भक्ति सम्भव नहीं और भक्ति से ज्ञान सुरक्षित होता है। भक्त भी अपने स्वामी (सद्गुरु) को समर्पित होकर निश्चित हो जाता है जैसे अर्जुन अपने गुरु कृष्ण को अपने रथ की लगाम सौंप कर बेफिक्र हो गया था (कठोपनिषद में शरीर को रथ, इंद्रियों को घोड़े और मन को लगाम कहा है) भक्त अपनी मन रूपी लगाम सद्गुरु को सौंप देता है—

मन बेचे सत गुरु के पास।
तिस सेवक के कारज रास।

—आदिग्रंथ

(5) गुरु सेवा से नाम धन की सच्ची सम्पत्ति पाकर, भक्त उसी का व्यवहार अपने जीवन में करता है और दोनों लोकों का सुख प्राप्त कर लेता है। दीक्षा समय गुरु द्वारा दिए गए बीज मंत्र 'एक तू ही निरंकार', मैं तेरी शरण हूँ, मुझे बख्शो' का हर समय स्मरण करते हुए प्रभु को समर्पित भाव से जितना भी वह कार-व्यवहार करता है, वह उसकी भक्ति (गुरु-सेवा) ही बन जाती है।

(6) भूल गई है दुनिया सारी—क्योंकि गुरु से हरि की पहचान किए बिना अधिकतर लोग भक्ति कर रहे हैं, अतः भ्रमित हैं, क्योंकि जब अपने मालिक का पता (पहचान) ही नहीं तो भक्ति कैसी और किसकी करेंगे? अंधकार में ठोकें खाने से क्या लाभ?

निरंकारी बाबा इस संदर्भ में एक सुन्दर उदाहरण देते हैं कि यदि कोई किसी बहन से कहे कि अपने बच्चे से प्यार किया करो, समय पर दूध पिला कर स्कूल भेजा करो, और बच्चे से उस बहन की गोद खाली हो, तो वह किस की सेवा और ध्यान करेगी? उसके लिए ऐसे उपदेश का लाभ भी क्या? बच्चा होने पर यह सब किया जा सकता है। यही हाल आज बिना गुरु-ज्ञान के भक्ति का हो रहा है। इसीलिए युग पुरुष ने कहा है कि ऐसे भ्रमित तथाकथित भक्तों को सन्मार्ग पर लाना महात्माओं का कर्तव्य है। मनुष्य को पहले स्वयं ज्ञान-भक्ति प्राप्त करके फिर अन्य भ्रमित लोगों को सन्मार्ग पर चलाना चाहिए।

(7) संत (गुरु) के चरण ही हरि के चरण हैं। हरि तो 'बिन पग चलै सुनै बिन काना' है, फिर आप किसके चरण दबाओगे? निराकार परमात्मा की सेवा सम्भव ही नहीं। इसीलिए भक्ति में साकार की आवश्यकता समझी जाती है। संत अथवा गुरु अथवा जीव मात्र की ब्रह्म भाव से सेवा ही भक्ति है। इसलिए गुरु के चरण ही हरि के चरण हैं। तभी तो कृष्ण की दीवानी मीरा गा उठी थी—

मोहि लागी लगन गुरु-चरनन की।

चरण बिना कछुवै नहि भावै जग माया सब सपनन की।

भवसागर सब सूख गये हैं फिकर नहीं मोहि तरनन की।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर आस वही गुरु-सरनन की।

—भजन संग्रह, गीता प्रेस, 231

'गुरु सरनन' का अर्थ है गुरु की शरण में आए हुए अन्य गुरुसिख अथवा संत। वे भी सद्गुरु के ही रूप हैं, अतः उनकी सेवा भी हरि सेवा ही है। सद्गुरु के प्रति प्रेम बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुंचता है कि सब जड़-चेतन में गुरु-दर्शन होने लगता है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।

इस प्रकार भक्त सबसे प्यार करता हुआ संसार को सुखी करता है। यही कारण है कि युग पुरुष ने अपने शारीरिक जीवन में सर्वत्र प्रेम का प्रसार प्रचार करके न केवल अनेक व्यक्तियों को ज्ञान और भक्ति से सम्पन्न किया बल्कि विदेशों तक में सुख संचार किया।

(8) ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा प्रभु-प्रेम की महिमा अधिक है, ऐसा अन्य अनेक संतों का भी मत है—

जो सिर काटे हरि मिलें, तो पुनि लीजै दौर।
 'नारायण' ऐसा न हो, गाहक आवै और॥
 'नारायण' हरि लगन में, यह पांचो न सुहात।
 विषय-भोग, निद्रा, हंसी, जगत-प्रीति, बहु बात॥
 प्रेम सहित अंसुवन ढरैं, धरै प्रभू को ध्यान।
 'नारायण' ता भक्त को, जग में दुर्लभ जान॥
 'नारायण' जाके हिये, उपजत प्रेम प्रधान।
 प्रथम बाकी हरत है, लोक लाज कुल कान॥
 'नारायण' जप, जोग, तप, सब सौ प्रेम प्रवीन।
 प्रेम हरि को करत है, प्रेमी के आधीन॥
 प्रेम पियाला जिन पिया, झूमत उनके नैन।
 'नारायण' वा रूप में, छके रहे दिन-रैन॥
 जाके मन में बस रही, सद्गुरु की मुसकान।
 'नारायण' ताके हिये, और न लागत ज्ञान॥

मूल पद 120

मां नूं अपना पुत प्यारा भैणां वीर प्यारा ए।
भूखा रोटी रोटी कूके प्यासे नीर प्यारा ए।
धन वाले नूं धन प्यारा बालक शीर प्यारा ए।
कहे अवतार मुरीदां ताईं एहां पीर प्यारा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

मां को जैसे पुत्र प्रिय है, बहना बीर पिआरा है।
भूखा रोटी को चिल्लाए प्यासे नीर पिआरा है।
लोभी को धन प्यारा जैसे शिशु को क्षीर पिआरा है।
इसी तरह अवतार शिष्य को अपना पीर पिआरा है।

अर्थ—महात्मा अवतार सिंह जी महाराज कहते हैं कि जैसे माता अपने पुत्र को प्यार करती है, जैसे बहन अपने भाई से स्नेह रखती है, जैसे भूखा रोटी के लिए व्याकुल होकर चिल्लाने लगता है, जैसे प्यासे को पानी की तीव्र इच्छा होती है, जैसे (लालची) धनी, धन को ही प्यार करता है और जिस प्रकार बालक को दूध इतना प्रिय है कि उसके बिना वह रह ही नहीं सकता उसी प्रकार शिष्य अपने सद्गुरु को (साकार ब्रह्म जान कर) आत्मिक प्रेम करते हैं और उनके वियोग में गोपियों की तरह व्याकुल हो जाते हैं। उन्हें ही सदैव स्मरण रखते हैं।

व्याख्या—संत भक्तों द्वारा प्रभु से जो प्रेम किया जाता है, यद्यपि उसका स्वरूप अलौकिक है, तथापि लौकिक उदाहरणों द्वारा अनेक संतों ने उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है जबकि संसार का प्रेम प्रभु-प्रेम के समक्ष कहीं भी नहीं टिकता।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

—मानस, 7-130 (ख)

संसार में भी देखा जाता है कि जो जिससे प्रेम करता है, उसे ही मन में बिठाए रखता है, उसे ही स्मरण करता है और उससे अलग होने पर तड़प उठता है। युगपुरुष कहते हैं कि प्रभु भक्ति में भी भक्त अपने पीर अथवा सद्गुरु को सदैव अपने मन में बिठाए रखता है

और उनके वियोग में व्याकुल हो जाता है। 'पीर' शब्द का अर्थ यहां सद्गुरु ही है, क्योंकि शिष्य के प्रसंग में गुरु और मुरीद के संदर्भ में मुर्शिद ही बनता है, अन्य नहीं। 'ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति पूजा मूल गुरो पदम्' आदि शास्त्र वाक्य इसके प्रमाण हैं। गुरु वाणी में कहा गया है कि "जो मन बेचे गुरु के पास, तिस सेवक के कारज रास।"

श्रीराम के वियोग में अयोध्यावासी इतने व्याकुल हो गये थे कि उनका प्रेम आँसू बनकर बहने लगा था। वे राम जी के बिना जीवित रहना भी नहीं चाहते थे—

जागे सकल लोग भए भोरू।
गे रघुनाथ भयउ अति सोरू।
रथ कर खोज कतहुँ नहि पावहि।
'राम राम' कहि चहुँ दिसि धावहि।
मनहु बारि-निधि बूड़ जहाजू।
भयउ बिकल बड़ बनिक समाजू।
निदहि आंपु सराहहि मीना।
धिग जीवन रघुबीर विहीना।
जो पै प्रिय वियोगु बिधि कीन्हा।
तो कस मरन न मांगे दीन्हा।

—मानस 2-86-1 से 6

सद्गुरु को समर्पित होकर प्रेम करना, उन्हें ब्रह्म-भाव से पूजना, ज्ञान और भक्ति दोनों के लिए आवश्यक है। परमात्मा के लिए जैसा भाव और श्रद्धा दिल में हो, वैसा ही भाव सद्गुरु के लिए होगा, तभी दृढ़ ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैत् कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् का अन्तिम मंत्र

यानी जिस साधक (शिष्य) की परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति होती है, तथा जिस प्रकार परमेश्वर में होती है, उसी प्रकार अपने गुरु में भी होती है, उस महात्मा के हृदय में ये बताए हुए (ब्रह्म-ज्ञान के) रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासु को पूर्ण श्रद्धालु और गुरु-भक्त बनना चाहिए। जिसमें गुरु और ब्रह्म दोनों के लिए पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्मा के हृदय में (ब्रह्म-ज्ञान और भक्ति के) गूढ़ अर्थ प्रकाशित होते हैं।

उपनिषद् का यही रहस्य युगपुरुष ने परोपकार के लिए इस पद में अपने अनुभव के आधार पर प्रकट किया है कि 'गुरु-प्रेम' को आधार बनाकर ही संत-महात्मा भगवद् भक्ति के उच्च शिखर पर पहुँचते हैं। इस पद का यही केन्द्रीय भाव है।

मूल पद 122

रहिन्दा कच्ची कुल्ली अन्दर रुखी मिस्सी खांदा ए।
सारा दिन मजदूरी करदा पाटे कपड़े पांदा ए।
कोई नहीं उसदा आदर करदा जित्थे वी ओह जांदा ए।
धन रूप तों हीणा ए ते नहीं किसे नूं भांदा ए।
कोई न संगी साथी उसका कोई न रिश्तेदार बणे।
कहे अवतार दुनिया दा राजा, जे रब्ब नाल प्यार बणे।

हिन्दी काव्यानुवाद

रहता कच्ची झोपड़ी अन्दर, रूखी सूखी खाता है।
सारे दिन मजदूरी कर के फटे वस्त्र में जाता है।
कोई न उसका आदर करता जिसके ढिंग भी जाता है।
नहीं रूप, ना धन ही पल्ले, नहीं किसी को भाता है।
कोई न संगी साथी उसका कोई न रिश्तेदार बने।
कहे अवतार है जग का राजा जो हरि के संग प्यार बने।

अर्थ—कच्ची झोपड़ी में रह कर रूखा-सूखा खाने वाला एवं मजदूरी करके जीर्ण शीर्ण कपड़े पहनने वाला, रूपहीन, धनहीन जिसका आदर सत्कार भी कोई न करता हो तथा जिसकी शोचनीय अवस्था देख कर उसके साथी और सम्बन्धी भी उसका साथ छोड़ गए हों, ऐसा व्यक्ति भी यदि परमात्मा से प्रेम (भक्ति) कर सके, तो महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि वह दुनिया का राजा हो सकता है अर्थात् वह इतना सुख प्राप्त करेगा जितना राजे-महाराजों को भी नहीं मिलता।

व्याख्या—क्योंकि राम भक्त को ही सुख मिलता है अन्य को नहीं। लंका में विभीषण का कोई आदर सम्मान नहीं था, और नीतिपूर्वक बोलने पर भी (नेक सलाह देने पर भी) महाराजा रावण ने उसे लात मार कर लंका से निकाल दिया था। उसने प्रभु भक्ति की, तो रावण से भी अधिक सुख प्राप्त किए। शास्त्रों के ये बचन आज भी उतने ही ठीक और सत्य हैं।

संसार की दृष्टि में कोई कितना भी बड़ा और इज्जतदार आदमी हो, यदि उसके हृदय में हरि के प्रति प्रेम नहीं तो भगवान भी उसे अपने बनाए अन्य कीट-पतंगों से अधिक कुछ नहीं मानेंगे, इसके विपरीत यदि सांसारिक दृष्टि से छोटा व्यक्ति भी भक्त है, तो प्रभु का प्राणप्रिय होकर सब सुखों का भागी बनता है—

भगतिहीन विरंचि किन होई।
 सब जीवन्ह सम प्रिय मोहि सोई।
 भगतिवंत अति नीचउ प्राणी।
 मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी।

—मानस 7-86-9

भगवान राम काग-भुशुण्डि से कहते हैं कि ब्रह्माभी यदि भक्तिहीन है तो उसे भी मैं अन्य जीवों के समान ही समझता हूँ परन्तु यदि कोई नीच प्राणी भी मेरा भक्त है, वह मुझे प्राणों से भी प्यारा है।

गिद्ध (जटायु) जैसे आमिष भोजी क्षुद्रवृत्ति के प्राणी भी न केवल मुक्ति प्राप्त करते हैं अपितु सांसारिक दृष्टि से भी उन्हें इतना सम्मान मिलता है कि लोग अपने पूजा-स्थलों (मन्दिरों) में भी उनके चित्र बनवा कर स्थापित करते हैं, जबकि राजा-महाराजाओं के चित्र भी मंदिरों में नहीं लगाए जाते। भक्त का दर्जा बहुत ऊँचा हो जाता है।

संत, शहंशाह से कम नहीं होते, क्योंकि 'चाह गई चिंता मिटी मनवा बे परवाह, जिनको कुछ नहिं चाहिये वे ही 'शहंशाह' (कबीर)। ऐसे संत मंगते नहीं, दाता होते हैं और प्रकृति (सांसारिक सुख) भी उनके आधीन होती है।

अवतार वाणी का यही भाव तुलसी के इस सवैये में आया है—

अपत-उतार अपकार को अगाऊ जग,
 जाकी छांह छुए सहमत बाध व्याध को।
 पातक पुहुमि पालबे को सहसानन सो,
 कानन कपट को पयोध अपराध को।
 तुलसी से बाम को भी दाहिने दयानिधानु,
 सुनत सिहात सब सिद्ध, साधु साधको।
 राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को,
 बड़ो कर कायर कपूत कौड़ी काम को।

—तुलसा : कवितावली, उत्तरकाण्ड, 68

अर्थात् यह नीच (तुलसी) बेयकीनी, निर्लज्जता और बुराई का भण्डार है, जिसकी छाया को छूने से संसार के व्याध और हिंसक जीव भी सहम जाते हैं। पाप रूप पृथ्वी की रक्षा के लिए यह शेषनाग के समान है, कपट का वन और अपराधों का समुद्र है। तुलसी जैसे उलटी प्रकृति वाले पुरुष के लिए भी राम दयालु हो गए, यह सुनकर सब सिद्ध, साधु और साधक चकित हो जाते हैं। राम नाम ने बड़े कुटिल कायर कपूत और आधी कौड़ी के आदमी को भी लाखों का सुन्दर रत्न बना दिया।

इसी प्रकार अवतार सिंह भी गुरु-कृपा से प्राप्त नाम धन से शहंशाह बन कर जगत में वन्दनीय और अभिनन्दनीय हो गए थे। यह पद उनके अपने अनुभव पर ही आधारित है।

मूल पद 146

फूल जिवें परवाह नहीं करदा नाल खलोते खारां दी।
परवाह नहीं करदे भगत हरि दे एहां दुनियादारां दी।
बोल नहीं एहदे थोथे होन्दे दुनियां वांगू बाझ अमल।
दुनियां दे विच एहां रहिन्दे ज्यों जल विच निरलेप कमल।
चन्दन नहीं, ज्यों खुशबू छड़दा, विच रहे चाहे बांसां दे।
रहिन्दा नाल ए नाम हरि दा आउंदे जांदे स्वासां दे।
पाणी दे विच रहे मुरगाबी लेप नहीं होन्दा पाणी दा।
कहे अवतार नहीं लेप भगत नूं माया भरम भुलाणी दा।

हिन्दी काव्यानुवाद

पास खड़े खारों की जैसे फूल कभी परवाह न करते।
संत हरी के ऐसे ही हैं, नहीं कभी वे जग से डरते।
इनकी वाणी नहीं खोखली जैसे जग की बिना अमल।
दुनिया में ये ऐसे रहते ज्यों जल में निर्लिप्त कमल।
चंदन छोड़े कभी न खुशबू रहकर भी विच बांसों के।
इनके साथ यह नाम हरी का आते-जाते सांसों के।
पानी में रहती मुरगाबी लेप न होता पानी का।
अवतार भक्त को लेप न होता माया भरम भुलानी का।

अर्थ—जैसे फूल अपने निकटवर्ती कांटों की कोई परवाह नहीं करते, उसी प्रकार प्रभु के भक्त भी दुनिया (के विरोध) की कभी चिंता नहीं करते। भक्तों की वाणी व्यर्थ और आचरणहीन कभी नहीं होती। ये जल में कमल की भांति संसार (माया) से निर्लिप्त रहते हैं। जिस प्रकार चन्दन बांस वृक्षों में रहकर भी अपनी सुगंध नहीं छोड़ते, उसी प्रकार ये भक्त दुनिया (माया) में रहकर भी हरि नाम नहीं छोड़ते और श्वास-श्वास में उसका स्मरण और ध्यान करते रहते हैं। जैसे मुरगाबी (जल मुर्गी) पानी में रहकर भी पानी से लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार सब को भ्रांत करने वाली माया भक्तों को भ्रमित नहीं करती, लिप्त नहीं करती।

व्याख्या—“फूल कांटों से, चन्दन बांसों से, कमल और जल-मुर्गी पानी से जैसे प्रभावित अथवा लिप्त नहीं होते, इसी प्रकार हरि-भक्त चारों और फैली माया से प्रभावित

अथवा लिप्त नहीं होते।" यह इस पद का केन्द्रीय भाव है। क्यों नहीं? इसका कारण भी स्पष्ट किया गया है कि गुरु-ज्ञान से सदैव परमात्मा का ध्यान जनित आनंद लेते रहते हैं और इस सत्य के साथ जुड़ने का सबसे पहला प्रभाव यह देखा जाता है कि इनकी वाणी और कर्म भी इसी सत्य के अनुरूप हो जाते हैं अर्थात् इनके मन-वचन-कर्म में सत्य समा जाता है और फिर जो सोचते हैं, वही करते और कहते हैं।

दुनिया का आचरण इसके विपरीत होता है, क्योंकि वे माया से जुड़े रहते हैं। माया परिवर्तनशील है, अतः उनके मन-वचन-कर्म में भी परिवर्तनशीलता और विविधता आ जाती है। सोचना कुछ, कहना कुछ और आचरण कुछ और ही होता है। जैसे रावण का चरित्र हमारे सामने है। बातें शिव-भक्ति की, वेष साधु का धारण कर लिया और कर्म कितने पापपूर्ण कि, सीता जी का अपहरण किया, संतों को सताया और देवों को भी लूटा। दुनिया भर की धन, सम्पत्ति, स्वर्ण, सुन्दरी, लंका में ले आया। इसीलिए युग पुरुष कहते हैं कि संतों के बोल दुनिया (मायासक्त लोगों) की तरह आचरणहीन नहीं होते। क्यों? क्योंकि उन्हें माया आकर्षित, लिप्त और प्रभावित ही नहीं करती, जैसे कमल को जल प्रभावित या लिप्त नहीं करता।

कमल रहता जल में है, खाना पीना और पोषण भी जल से ही ग्रहण करता है परन्तु प्रेम का सम्बन्ध सूर्य से रखता है और उसी से प्रभावित होता है, जल से नहीं। इसी प्रकार संत रहता माया में है, खाना पीना और पोषण भी माया से ही ग्रहण करता है, परन्तु प्रेम प्रभु से ही करता और प्रभु से ही प्रभावित होता है, माया से नहीं।

युग पुरुष का यह अनुभव वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार उपलब्ध है—

- (1) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

—यजुर्वेद 40-2

अर्थात् सब कर्म ब्रह्मार्पण करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इससे अलग कोई मार्ग नहीं। ब्रह्मार्पण किये हुए कर्म मनुष्य को बांधते नहीं, लिप्त नहीं करते।

- (2) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्तवा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

—गीता 5-10

यानी जो ब्रह्म द्रष्टा परमात्मा में समर्पण करके कर्म-फल के सम्बन्ध को छोड़कर कर्मों को करता है, वह पुरुष जल में कमल के पत्ते के समान लिप्त नहीं होता।

- (3) संतों की वाणी भी इसी तथ्य पर बार-बार बल देती है कि स्थिर सत्य से जुड़कर संत अस्थिर माया में अपना मन नहीं लगाते—

सकल वस्तु संसार की, कबहुं स्थिर है नाहि।
 तिहि कारण ज्ञानी पुरुष, चित न धरत तिहि माहि॥
 जाके मन विस्वास है, सदा प्रभु है संग।
 कोटि काल झकझोरई, तऊ न हो चित भंग॥
 हाथी घोड़े धन घना, चंद्रमुखी बहु नार।
 नाम बिना यमलोक में पावत दुःख अपार॥

सत्य के सिंहासन पर विराजमान संत सत्य के लिए सदा माया की उपेक्षा करता है—

कबिरा हमरा कोउ नहीं, हम किसके हू नाहिं।
 जिन ए रचन रचाइया, तिस ही माहि समाहि॥

अब प्रश्न केवल यह रहा कि माया की शक्ति, जो अखिल ब्रह्माण्ड को नाच नचा रही है, वह संत के सामने इतनी विवश क्यों हैं? इसका कारण यह है कि मायापति पर मरने वाले (प्रेमी) की माया भी दासी हो जाती है—

प्रभुता को सब मरत हैं, प्रभु को मरै न कोय।
 जो कोई प्रभु को मरै, तो प्रभुता चेरी होय॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि माया का अंधकार ब्रह्मज्ञान के प्रकाश पर प्रभाव नहीं डाल सकता। यही कारण है कि माया सबको तो अपना गुलाम बनाकर रखती है, पर संत से सदा डरती है—

जिनके चित्त ध्यान में लग रहे।
 वे उलटे ठगनी को ठग रहे।
 'गंगादास' जोग में जग रहे।
 दीपक तिमिर निवारकी,
 माया पातंग जरै है।
 माया बैरन संसार की,
 संतों से सदा डरै है।

—गंगादास

इस प्रकार युग पुरुष द्वारा प्रकट यह पद अपने में अत्यन्त गम्भीर अर्थ छिपाए है, जो वेद शास्त्र और संत वाणी-सम्मत है।

मूल पद 162

सब तों वड्डा पाप ए लोको जे प्रभ दर्शन पाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको जे गुण जीभां गाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको जे कर माण गवाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको जे कर सीस झुकाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको गुर चरणी चित लाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको दसवां द्वारा पाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको मन नूं जे समझाया नहीं।
 सब तों वड्डा पाप ए लोको पूरा गुर जे ध्याया नहीं।
 सब तों वड्डा पुन्न है एहो जीआं दी कल्याण करे।
 कह अवतार ओह दानी वड्डा जो नाम भंडारा दान करे।

हिन्दी काव्यानुवाद

सब से भारी पाप है लोगो जो प्रभु-दर्शन पाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो जो जिह्वा गुण गाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो जो निज मान गंवाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो जो निज सीस झुकाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो गुरु चरणी चित लाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो दसवां द्वारा पाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो जो मन को समझाया नहीं।
 सब से भारी पाप है लोगो पूरा गुरु जो ध्याया नहीं।
 सब से बढ़कर पुण्य यही है जीवों का कल्याण करे।
 कहे अवतार वह उत्तम दानी नाम की दौलत दान करे।

अर्थ—मानव शरीर प्राप्त करके भी प्रभु-दर्शन से वंचित रहना, जिह्वा से हरि गुण-गान न करना, अहंकार न त्यागना, संत के चरणों में नमस्कार न करना और संत के द्वारा सद्गुरु तक पहुंच कर श्रद्धा और विनम्रतापूर्वक आत्म ज्ञान के लिए प्रश्न न करना, दसवें द्वार (निराकार प्रभु) का ज्ञान प्राप्त न करना और इसे प्राप्त करके अपने मन से इसका चिंतन न करना, तथा (ब्रह्म भाव से) गुरु का ध्यान न करना, संसार में सबसे भारी पाप-कर्म हैं। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि सबसे बड़ा पुण्य यह है कि मानव स्वयं

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अन्य जीवों का भी कल्याण करे। ब्रह्मज्ञान का धन (नाम धन) देने वाला व्यक्ति सबसे बड़ा दानी होता है।

व्याख्या—(1) सद्गुरु के समक्ष विनम्रता और सेवा भाव से नमस्कार करके प्रभु-दर्शन करना सबसे बड़ा पुण्य और ऐसा न करना सबसे बड़ा पाप है। जीव के मुक्ति मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अहंकार है, जो विशाल प्रभु के दर्शन करके इस प्रकार समाप्त हो जाता है। जैसे विशाल पर्वत को देखकर ऊंट का घमण्ड चूर-चूर हो जाता है। ऊंट अपने को कितना ही ऊंचा समझता रहे, परन्तु पर्वत को देखकर वह ऐसा नहीं समझ सकता। हमारे अहंकार का कारण 'जीव-भाव' भी प्रभु दर्शन से स्वयंमेव समाप्त हो जाता है और जीव भाव के साथ ही सारे दुख भी समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि—

जीव भाव रहता है जब लों।
महा कष्ट सहता है तब लों।

—संत गंगादास

(2) पूरा गुरु जे ध्याया नहीं—पूर्ण सद्गुरु से ज्ञान ध्यान करना भी आवश्यक है। ध्यान करने के दो अर्थ हैं। पहला तो यह कि सद्गुरु विग्रह (शरीर) को ही ब्रह्म-मूर्ति जानकर अपनी आंखों से सदैव बसाए रखे। ध्यान करने का दूसरा अर्थ यह है कि गुरु ने जो ब्रह्म का ज्ञान दिया है, उस पर स्वयं भी विचार करे। कबीर आदि संतों ने इसकी भी परम आवश्यकता बतलाते हुए कहा है कि 'सो ज्ञानी जो आप बिचारै।'

जिज्ञासु को ध्यान के उपयुक्त दोनों अर्थ ग्रहण करके ही सद्गुरु की मूर्ति को भी मन में रखना होता है और गुरु के आदेश-उपदेश का ध्यान करके पालन भी करना होता है। कहा भी है—

ध्यान मूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वक्त्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

—गुरु गीता 1-86

(3) मन नूं जे समझाया नहीं—गुरु के वचनों पर अपना मन विश्वास के साथ लगा कर बार-बार माया से हटाना पड़ता है। ज्यों-ज्यों ब्रह्मज्ञान दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों ही मन भी उसमें अधिक से अधिक मंलग्न होता रहता है और यह क्रम चलते-चलते जिज्ञासु का मन और मति समाप्त हो जाते हैं तथा गुरु की मति ही उसकी मति बन जाती है। इसे ही 'गुरुमति' के नाम से अभिहित किया जाता है। वैसे तो शिष्य ज्ञान के समय ही अपना मन और मति उसे सौंप कर कहता है कि—Take my will and make it thine.

अर्थात् 'लो मेरी सारी मति, मेरी कोई इच्छा न रहे, उसे तुम अपनी बना लो।'

महात्मा सूरदास भी अपने मन को समझाते हुए कहते हैं—

रे मन कृष्ण नाम कहि लीजै।
गुरु के वचन सत्य करि मानहु, संत समागम कीजै।

कृष्ण नाम जल बह्यौ जात है तृषावन्त ह्वै पीजै।

अर्थात् हे मेरे मन 'कृष्ण-नाम' (निराकार प्रभु) से अपनी लौ लगा। गुरु-वचन पर विश्वास करके सत्संग कर। 'हरि नाम' जो तेरे चारों ओर जल की तरह (शीतल करने वाला) बह रहा है, अथवा भरा पड़ा है, उसे प्यासा बनकर पीता रहेगा तो तेरा कल्याण होगा।

(4) जीआं वा कल्याण करे—ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् सब ही तो अपने रूप लगने लगते हैं, सभी में प्रभु विराजमान दिखाई देता है तो ज्ञानी सब के कल्याण की ही सोचता है। कबीर भी कहते हैं— 'घट-घट में तेरा साईं रमत है, कटुक वचन मत बोल रे।' किसी से भी वह बुरा नहीं बोलता और दूसरे के दुःखों को अपना दुख समझता है, यही भक्त की सबसे बड़ी पहचान है। गुजराती सत नरसी के शब्दों में—

दैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।

पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।

'साईं के सब जीव हैं कीड़ी कुंजर दोय' समझ कर सब जीवों की कल्याण-कामना जानवान ही कर सकता है।

(5) ओह दानी बड्डा—रुपया, पैसा, स्वर्ण आदि तो नाम का धन है, जबकि नाम धन काम का धन है। जो व्यक्ति इस 'नाम धन' (ब्रह्मज्ञान) को स्वयं प्राप्त करके दूसरों को भी बांटता है, वही सबसे बड़ा दानी है।

गीता (18-68) में कहा गया है कि जो ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मज्ञान के अधिकारी मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देगा, पराभक्ति द्वारा वह मुझ में ही प्रवेश करेगा, अर्थात् वह मुक्त हो जाएगा। ऋग्वेद (9-7-8) और निरुक्त (2-4) में भी यह कहा गया है कि यदि तत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी अनाधिकारियों को छोड़कर अधिकारियों में ही ब्रह्मज्ञान का उपयोग करने वाले (देने वाले) तथा कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि रखने वाले सावधान और अप्रमादी को ब्रह्म-विद्या का उपदेश देता है तो इससे विद्या-निधि भी सुरक्षित रहती है और ब्रह्म-ज्ञान के इस दान से कल्याण होता है।

संत वाणी में भी कहा गया है कि 'ब्रह्म-ज्ञान' अति दुर्लभ धन है। अतः इसका दान करने वाला सबसे बड़ा दानी होता है—

विद्या, बल, धन, रूप, यश, कुल, सुत, बनिता, मान।

सभी सुलभ संसार में, दुर्लभ आतम ज्ञान॥ (11)

'नारायण' बिन ज्ञान के पण्डित पसू समान।

तासों अति मूरख भलो, जो सुमरे भगवान॥ (38)

खान पान सुख भोग में, पशु भी परम सुजान।

कहा अधिकता मनुज की, जो न लखै भगवान॥ (265)

इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने से पशु मानव बन जाता है और दुखी भी सुखी हो जाता है। ऐसे नाम धन का दान करने वाले को ही युग पुरुष ने उत्तम दानी कहा है। साधारण आदमी तो ज्ञान के बिना सदैव बंधन में रहता ही है, परन्तु दान प्रसाद आदि संत को भी कभी-कभी फँसा देते हैं। मान लिया 'अ' ने 'ब' का प्रसाद किया अथवा कोई दान दिया। 'अ' ने यदि यह समझा कि मैंने यह कार्य किया है और 'ब' ने भी यदि यही समझा कि मेरे लिए 'अ' ने यह कार्य किया है तो दोनों फंस गए, क्योंकि प्रभु को तो कर्ता किसी ने माना ही नहीं। यदि दोनों प्रभु (सद्गुरु) की कृपा का फल इसे मानें तो बच जाते हैं, क्योंकि कोई न कुछ दे सकता है, न ले सकता है, जब तक इस प्रभु की कृपा न हो, जिसके आदेश से सबके श्वास चल रहे हैं।

इसीलिए युगपुरुष ने इस पद में कहा है कि 'सबसे भारी पाप है लोगो, जो निज मान गंवाया नहीं।'

मूल पद 171

हंसां दी तू रीस करें ते लुक लुक डड़ू खावें तू।
 अपने मुंहो भौरा बणनै गन्दी थां ते जावें तू।
 पा के केवल शेर दा चोला शेर दा नाम रखावें तू।
 पर जद अपनी बोली बोले खोता फेर सदावें तू।
 पूरे गुरु दी शरणी आ जा जे कुझ बणना चाहवें तू।
 कहे अवतार मिले तां पदवी जे अपना आप गंवावें तू।

हिन्दी काव्यानुवाद

हंसों जैसा स्वांग भरे पर मेढक छिप छिप खाए तू।
 अपने मुंह से भंवरा बनता फिर क्यों मल पर जाए तू।
 खाल शेर की ओढ़ के अपना सिंह ही नाम रखाए तू।
 पर जब अपनी बोली बोले खर! पहचाना जाए तू।
 पूरे गुरु की शरण में आ जा जो कुछ बनना चाहें तू।
 कहे अवतार मिले तब पदवी यदि अपना आप गंवाए तू।

अर्थ—किसी मायासक्त वेशधारी साधु को सम्बोधित करते हुए महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि हे (पाखण्डी) संत! हंस का स्वांग भर के भी तेरे कर्म बगुले के हैं, जो छिप कर मेढक खाता है अर्थात् संत का केवल वेश बना लिया है और छिप-छिप कर आसक्ति पूर्वक माया का भोग करता है। अपने मुख से स्वयं अपनी प्रशंसा करके तो तू भंवरा (संत) बनता है, परन्तु फूलों पर (ब्रह्म में) नहीं रमता और बार-बार कौए की तरह मल पूरित गंदगी पर जाता है, यानी माया में लिप्त होता है। जैसे किसी गधे ने शेर की खाल ओढ़ कर अपना नाम शेर ही रख लिया था, परन्तु बोलता हुआ पहचाना गया कि गधा है। इसी प्रकार संत का वेश धारण किया हुआ तू भी अपने कर्मों से पहचाना जाएगा। यदि तू सच्चा संत बनना चाहता है तो सद्गुरु की शरण में आकर, ब्रह्म की पहचान कर। तब तेरा अहंकार पूर्ण रूप से नष्ट होगा और इसके बाद ही तू परम पद प्राप्त करके सच्च संत बन सकेगा, अन्यथा नहीं।

व्याख्या— (1) यहां हंस और भंवरा ब्रह्मज्ञानी संत के प्रतीक (सिंजल) हैं और कौवा तथा बगुला कपटी और पाखण्डी साधु के लिए प्रयुक्त हैं। संतों की वाणी में अधिकतर ये प्रयोग मिलते हैं, जैसे—

(क) हंस सदा मोती खाते हैं।
नहीं तो लंघन कर जाते हैं।

—गंगादास

(ख) मज्जन फल पेखिय तत्काला।
काक होहि पिक बकहु मराला।

—मानस

अर्थात् सत्संग की गंगा में स्नान करके बगुले हंस हो जाते हैं और कौवे कोयल बन जाते हैं

(ग) तेहि पुर भरत बसहि बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा।

—मानस

अर्थात् माया से भरी अयोध्या नगरी में भरत ऐसे निर्लिप्त होकर रहते हैं, जैसे चंपा के बाग में भंवरा।

(2) पाखंडी संतों के लिए इस प्रकार की चेतावनी अन्य संतों ने भी दी है। यथा—

(क) पूरा सतगुरु ना मित्या रही अधूरी सीख।
स्वांग जती का पहर कर घर-घर मांगे भीख।

—कबीर

(ख) ये तो सब भेखी बगले हैं।
मेंढकी मारा सठ पगले हैं।
ये तो सब मिलके ठगले हैं।
धर के हंसों के वेश को,
वहां पर ना इनकी दर है।
उड़ चल हंसा उस देश को,
जहां मानसरोवर सर है।

—गंगादास

(3) अन्तरकथा — एक गधे को कहीं से शेर की खाल मिल गई तो वह उसे ओढ़कर सिंह का नाटक करने लगा। वह खेतों में घुसकर फसल चर जाता था, परन्तु भय के कारण उसे कोई कुछ कहता नहीं था। एक दिन गधों को बोलता सुनकर वह भी बोलने लगा तो रखवालों ने पहचान लिया और पीट-पीट कर उसका देहान्त कर दिया, क्योंकि उनके खेतों का उसके द्वारा काफी नुकसान हुआ था। इसी प्रकार कपटी साधु भी पहचाना जाता है और कभी-कभी इसी प्रकार ही उसकी भी पिटाई होती है, जैसी हनुमान जी ने 'कालनेमि' की की थी, जो कपटी संत बना बैठा था। तभी तो तुलसी लिखते हैं—

अंत काल नहि होहि निबाहू।
कालनेमि जिमि रावन राहू।

—मानस

अर्थात् कपटी संत अंत में पहचाने ही जाते हैं, जैसे कालनेमि, रावण और राहु अपने को छिपा नहीं सके।

(4) तुलसी देखि सुवेषु, भूलहि मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहि पेखु, बचन सुधा सम असन अहि॥

—मानस 1-161 (ख)

अर्थात् तुलसी दास जी कहते हैं कि कपड़े रंगे हुए कपटी साधु को देखकर मूर्ख लोग ही उन्हें साधु समझते हैं, चतुर व्यक्ति कभी ऐसी भूल में नहीं पड़ते। देखो मोर, वाणी तो कितनी मधुर, अमृत जैसी बोलता है, परन्तु कर्म से इतना कठोर कि साबुत सांप को निगल जाता है। ऐसे ही वेषधारी संत भी प्रायः कपटी देखे जाते हैं।

मूल पद 172

रे नर तेरा एस जहां विच कोई न साथी बेली ए।
 तेरे नाल किसे नहीं जाणा जाणीं जिन्द अकेली ए।
 माता रोदी रह जाणी ए चुक ले जाणा भाईयां ने।
 मार दुहत्थड़ रोवे बहुटी झूठियां हाल दुहाईयां ने।
 तेरे कीते अमलां बन्दे नाल ही तेरे जाणा ए।
 कहे अवतार प्रभु बिन सारा झूठा ताणां बाणां ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

हे नर, तेरा इस दुनिया में कोई न संगी मेली है।
 तेरे साथ न जाए कोई जानी जान अकेली है।
 माता रोती रह जाएगी भाई चलेंगे ले शमशान।
 मार दुहत्तड़ रोये पत्नी झूठी इस दुनिया को जान।
 तेरे किये कर्म ही बन्दे संग में तेरे जाने हैं।
 कहे अवतार प्रभु बिन झूठे सारे ताने बाने हैं।

अर्थ—हे मानव (जिन मित्रों और संबंधियों पर तू घमण्ड करता है, उनमें) कोई भी इस संसार में तेरा साथी बनने वाला नहीं। जब तेरी मृत्यु होगी, अर्थात् तू इस संसार से जाएगा तो इनमें से कोई भी तेरे साथ जाने वाला नहीं। तन त्याग करके जीव को अकेला ही ज्ञान पड़ता है। उस समय तेरी माता घर में रोती रह जाएगी और भाई शीघ्र ही तेरे शरीर को शमशान भूमि में ले जाएंगे और अंतिम संस्कार कर देंगे। पत्नी भी माथा पीट कर रोएगी, परन्तु असत्य जगत के इन असत्य कार्यों से तेरे भविष्य पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं। उस समय (अंतिम काल में) तेरे कर्म ही तेरे साथ जाएंगे। अवतार सिंह समझाते हैं कि परमात्मा के अलावा इस संसार का सभी ताना बाना (विस्तार) झूठ है, असत्य है।

व्याख्या—इस पद में वाणीकार ने मृत्यु का मार्मिक चित्रण करते हुए कहा है कि उस समय सम्बन्धी, पारिवारिक जन आदि कोई भी जीव के साथ नहीं जाता। जीव अपने (अच्छे बुरे) कर्मों, मन और इंद्रियों के सूक्ष्म रूप सहित ही पहले शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है (अथवा ज्ञानभक्ति सम्पन्न कर्म किए हों तो मुक्त हो जाता है) अतः परिवार और संबंधियों के मोह में पड़कर कभी भी ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जो हमें

भविष्य में मृत्यु के उपरान्त दुखदाई हों। संसार के सारे रिश्ते नाते असत्य और कल्पित हैं। आदि शंकराचार्य कहते हैं—

माता नास्ति पिता नास्ति नास्ति बंधु सहोदरः ।

अर्थन्नास्ति गृहन्नास्ति तस्मात् जाग्रत जाग्रत॥

अर्थात् न यहां माता है, न पिता है, न कोई किसी का साथी है और न भाई। घन और घर भी नहीं। इन वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं, अतः हे मानव, तू मोह की निद्रा से जाग और अपने स्वरूप तथा वास्तविक संबंधी को पहचान।

जीव के एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में जाने का वर्णन अन्यत्र भी इसी प्रकार उपलब्ध है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

—गीता 15-8

यानी वायु गंध के स्थान से जैसे गंध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही जीव भी पहले शरीर से मन सहित इंद्रियों को ग्रहण करके अगले शरीर में ले जाता है। जीवात्मा द्वारा किए गए कर्म संस्कार रूप में मन के साथ ही दूसरे शरीर में चले जाते हैं, क्योंकि कर्मों के संस्कार मन में ही होते हैं और मन प्रत्येक योनि में जीवात्मा के साथ रहता है।

वेद में भी कहा गया है कि सब जंगम प्राणियों के हृदय में जीवात्मा का वास रहता है, जिसका मुख्य कर्म परमात्म दर्शन है। मन के साथ सब इंद्रियां सूक्ष्म रूप से पूर्ण विषय ग्राहक शक्ति के साथ जीवात्मा के साथ आती जाती रहती हैं—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पत्यतस्वन्तः।

विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वियन्ति साधु॥

—ऋग्वेद, 6-9-5

मृत्यु का मार्मिक एवं वास्तविक वर्णन करते हुए संत वाणी की ये दो कुण्डलियां भी उल्लेखनीय हैं—

आता ना उस वक्त पै दारा-सुत-धन काम।

रुका कंठ, घर के कहें अब तुम बोलो राम।

अब तुम बोलो राम पति! पत्नी हूं तेरी।

कैसे होगी गुजर एक बर बोलो मेरी।

'गंगादास' उस वक्त कोई मारग पाता ना।

नव दर हो गए बंद सांस पूरा आता ना।

बोलो जो कुछ धरा हो कहीं आपका माल।

मुझे बता दो सहज में आय गया अब काल।

आय गया अब काल माल घर के बूझे हैं।
जो साऊं थे सगे सोई दुश्मन सूझे हैं।
'गंगादास' कह नार भेद तन धन का खोलो।
अब क्यूं साधो मौन पिया मुझसे तो बोलो।

—गंगादास

मूल पद 211

इक डली सोने दी लैके गहणे कई वणवा लईये।
मुन्दरी छापां हार ते कांटे मरजी दे घढ़वा लईये।
मुड़ के मुन्दरियां छापां हारां नूं जे कर गलवा लईये।
मुड़ सोने दा सोना हो जाए कितने रूप बटा लईये।
एदां बन्दा हिन्दू मुस्लिम सिख दा भेस बणा बैठा।
कह अवतार असल विच बन्दा बाधू झगड़े पा बैठा।

हिन्दी काव्यानुवाद

स्वर्ण की एक डली से गहने भांति भांति के वनवा लो।
चूड़ी हार नथनिया झुमके जो चाहो सो गढ़वा लो।
भिन्न-भिन्न ये जेवर सारे जब फिर से गलवाओगे।
वैसी ही सोने की फिर से एक डली पा जाओगे।
ऐसे ही रूप बनाए मानव हिन्दू सिख इसाई का।
कहे अवतार अज्ञान 'मूल' का, कारण बने लड़ाई का।

अर्थ—जिस प्रकार एक ही स्वर्ण भिन्न-भिन्न आभूषणों की अलग-अलग आकृतियां धारण करके वह भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाने लगता है और गलने पर फिर स्वर्ण बन जाता है, इसी प्रकार (एक ही ब्रह्म पृथक्-पृथक् नामों और रूपों के द्वारा अपने संकल्प द्वारा जगत् के रूप में प्रकट हो जाता है अथवा) मनुष्य भी हिन्दू मुस्लिम सिख इसाई आदि की झूठी भिन्नता को सत्य समझकर, एकता में अनेकता देखने लगा है। इस प्रकार अपने मूल स्वरूप (परमात्मा) की जानकारी न होने के कारण मानव एक दूसरे में अन्तर समझने लगता है और वाद-विवाद करने लगता है।

व्याख्या—अवतार वाणी का यह पद वेदान्त दर्शन की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार स्वर्ण पहले भी स्वर्ण था, बाद में भी स्वर्ण होता है और बीच में भी वह यद्यपि है स्वर्ण ही, तथापि उसमें आभूषण की मिथ्या कल्पना कर ली गई है। जेवर में तो स्वर्ण की सत्ता सदा रहती है परन्तु स्वर्ण में आभूषण की सत्ता नहीं। यदि आभूषण की बीच में कोई सत्ता दिखाई भी देती है, तो वह व्यावहारिकी सत्ता (Intermediate reality) है पारमार्थिकी सत्ता (permanent reality) नहीं।

- (1) कनक में मिथ्या भूषण जैसे।
माटी में घट समझो तैसे।
जगत बना चेतन ने ऐसे।
जा विधि वस्त्र सूत ने।

—संत गंगादास

अर्थात् स्वर्ण में आभूषण की, मिट्टी में घड़े की, सूत में वस्त्र की जैसे मिथ्या कल्पना है, इसी प्रकार चेतन तत्त्व में जगत की मिथ्या कल्पना है।

- (2) यद्विमाति सद्नेकधा भ्रमान्नामरूपगुणविक्रियात्मना।
हेमत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि॥

—आद्य शंकराचार्य, विवेकचूड़ामणि 26

अर्थात् जो सदा सत्य है और स्वर्ण के समान निर्विकार है, तथापि भ्रमवश उसके विकार (चूड़ी हार झुमके आदि के समान) अनेक रूप, गुण, नाम और विकारों में भासता है, वह ब्रह्म ही तुम हो—ऐसा अपने चित्त में चिन्तन करो।

- (3) अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

—गीता 2-28

अर्थात् हे अर्जुन—सभी वस्तुएं आरम्भ में निराकार, बीच में थोड़े समय के लिए साकार और फिर अन्त में भी निराकार ही हो जाती हैं, तब इनके लिए दुःख क्या करना?

- (4) पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाई।
जैसा था वैसा भया, आगे कहा न जाई।

—कबीर

- (5) तमिद्गर्म प्रथमं दघ्न आयो
यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं
यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

—ऋग्वेद :10-82-6

अर्थात् सब पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म में थे, अतः अव्यक्त रूप थे। विनाश के बाद ब्रह्म में लीन होने से भी अव्यक्त रहते हैं। केवल मध्य स्थिति में व्यक्त होते हैं। ऐसे पदार्थों के लिए दुखी होने की क्या आवश्यकता है।

मूल पद 212

चाहे पढ़ लओ गीता नूं वीं एहो गल समझांदी ए।
 सर्वव्यापी रब्ब नूं जाणो एहो पई फरमांदी ए।
 जे कर पढ़ लओ गुरु ग्रंथ नूं एहो आख सुणांदा ए।
 इक ओंकार गुरु तों जाणो इक्को राह दिखलांदा ए।
 कुरान अंजील च एहो लिखया ईश्वर ही है लोको सत।
 कहे अवतार मूरखां अपणी सो स्याणे इक्को मत।

हिन्दी काव्यानुवाद

चाहे पढ़ लो गीता को भी यही बात समझाती है।
 सर्वव्यापी हरि को जानो यह संदेश सुनाती है।
 गुरुग्रंथ को भी यदि पढ़ लो ये ही बोल सुनाता है।
 एक ओंकार गुरु से जानो यही मार्ग दिखलाता है।
 कुरान अंजील में यही लिखा है ईश्वर ही है लोगो सत।
 मूर्ख कहें सब अपनी अपनी सौ सयाने एक ही मत।

अर्थ—चाहे गीता को भी पढ़कर देख लो, वह भी यही संदेश देती है कि सर्वव्यापी (निराकार) परमात्मा को ही (सद्गुरु से) जानना चाहिए। गुरु ग्रंथ में भी यही लिखा है कि एक ओंकार (परमात्मा) को पूरे गुरु की कृपा से जानना चाहिए। कुरान और अंजील का भी यही मत है कि एक ईश्वर ही सत्य और जानने योग्य है। सत्य पर आरूढ़ अनेक बुद्धिमान व्यक्तियों का एक ही मत है, जबकि असत्य पर आरूढ़ मूर्खों के मत अलग-अलग होते हैं।

व्याख्या—उल्लेखनीय है कि यहां अलग-अलग तथाकथित धर्मों अथवा सम्प्रदायों की प्रतिनिधि पुस्तकों का केन्द्रीय भाव दिया गया है—

(1) हिन्दुओं का धर्म ग्रंथ गीता : अध्याय 4, श्लोक 34—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः।

अर्थात् किसी तत्त्वदर्शी ज्ञानी (सद्गुरु) से नमस्कार सेवा और प्रश्न करके परमात्मा को जानना चाहिए।

(2) सिखों का आदि ग्रंथ (गुरु ग्रंथ साहिब) —

पूरे गुरु का सुन उपेदश।

पारब्रह्म निकट कर पेख।

अर्थात् पूरे गुरु (के मुखारविन्द) से ज्ञानोपदेश सुनकर परमात्मा को निकट ही देखना (अनुभव करना) चाहिए।

(3) इस्लाम धर्म की कुरआन : सूरा 25/59

खुदा रहमान है तो उसके लिए सवाल करो, उससे, जो खबर रखता है।

और वहीं सूरा 58-11 में कहा गया है कि—अल्लाह उन लोगों के दरजे ऊंचे कर देगा जो तुम में से ईमान ले आए और जिन्हें ज्ञान प्रदान किया गया।

(4) अंजील—“Ask, and it shall be given you; seek, and ye shall find; Knocketh, and it shall be opened unto you; For every one that asketh receiveth; and he that seeketh findeth; and to him that knocketh it shall be opened.”

—Mathew 7 : 7-8

अर्थात् मांगोगे तो (ज्ञान) मिलेगा, तलाशोगे तो प्रभु को पाओगे, द्वार खटखटाओगे तो खोला जाएगा, जिस जिस ने पूछा, उसी उसी ने प्रभु को पाया। जिसने द्वार खटखटाय़ा, उसीके लिए प्रभु का द्वार खुला।

(5) अथर्ववेद : 9-4-19 में कहा गया है कि—

ब्राह्मणेभ्य ऋषेभ्य दत्त्वा वरीयः कृणुते मन।

अर्थात् तत्त्वदर्शी महात्मा (के उपदेश) पर मन लगाकर उसे श्रेष्ठ (ब्रह्मज्ञान युक्त) बनाना चाहिए।

(6) “मूर्खों में मतभेद और सौ सयाने एक मत” का अर्थ यह है कि जैसे किसी कक्षा में यदि 50 विद्यार्थी हों और गणित का एक प्रश्न अध्यापक द्वारा बोला जाए। मान लो वह प्रश्न 20 छात्रों का सही और 30 का गलत है तो जिन 20 का ठीक है, उनका उत्तर तो एक ही होगा (सौ सयाने एक मत) और जिनका गलत है, उन सबके अलग-अलग उत्तर होंगे। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी जिन्होंने सत्य धर्म को पकड़ा हुआ है उनका मत सभी ग्रन्थों और सद्शास्त्रों से मिल जाता है और यदि कोई अलग-अलग की बात करते हैं, मतभेद या वादविवाद प्रकट करते हैं तो समझना चाहिये इनका ‘उत्तर’ ग़लत है धर्म-पंथ में वे भ्रमित हो गए हैं।

अतः अन्य धर्म ग्रन्थों का नाम लेकर अवतारणी में जो दावा किया गया है, वह उन ग्रन्थों के उपर्युक्त उदाहरणों से स्वतः सिद्ध और वेदादि शास्त्रों से अनुमोदित है। संसार के सभी धर्म ग्रन्थों का यह ज्ञान महात्मा अवतार सिंह को आत्मिक शक्ति से ही प्राप्त हुआ प्रतीत होता है।

मूल पद 213

रव ए सब दे अंग संग वसदा जंगलीं जाके लैणा की।
 शह रग तों नजदीक है वसदा हाकां मार के लैणा की।
 सहज अवस्था विच मिल सकदा कष्ट उठा के लैणा की।
 ऊधरों पुटणा एधर लाणा कर्म कमा के लैणा की।
 वेद कतेब वी एहो कहन्दे सीस झुका के मिलदा ए।
 कहे अवतार निरंकार नूं तक के दिल मुरझाया खिलदा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

हरि तो सब के अंग संग रहता वन में जाकर लेना क्या?
 अपने से भी अधिक निकट है शोर मचा कर लेना क्या?
 सहज अवस्था में मिल सकता, कष्ट उठा कर लेना क्या?
 उधर हटा कर इधर लगाना कर्म कमा कर लेना क्या?
 वेद शास्त्र भी यह कहते सीस झुका कर मिलता है।
 अवतार कहे इस हरि को पाकर मन मुरझाया खिलता है।

अर्थ—जब परमात्मा (सर्वव्यापी) सब स्थानों पर विराजमान है तो वनादि दूसरे स्थान पर किसे खोजने जाते हो? जब सबसे निकट यही है तो शोर मचाकर क्या मिलेगा? जब आराम से भी (गुरु ज्ञान द्वारा) मिल सकता है तो कष्ट उठाने (घोर साधना करने) की क्या आवश्यकता है? मन को इधर (माया) से हटाकर उधर (ब्रह्म में) लगाने मात्र से ही जब यह मिल जाता है तो घोर कर्म करने की क्या आवश्यकता है? वेद शास्त्रों का कथन भी तो यही है कि गुरु के समक्ष समर्पण करने से ही परमात्मा का दर्शन होता है। महात्मा अवतार सिंह जी कहते हैं कि इस निराकार परमात्मा को देखकर ही मन की मुरझाई कली खिल जाती है, अर्थात् अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है।

व्याख्या—परमात्मा की प्राप्ति ज्ञानी ज्ञान से, योगी कर्म से और भक्त प्रेम से मानते हैं। ज्ञान और भक्ति का तो आपस में मेल भी बैठ जाता है, क्योंकि ये एक दूसरे पर आश्रित कहे जाते हैं और यहां तक कहा जाता है कि भक्तिहीन ज्ञान लंगड़ा है और ज्ञानहीन भक्ति अंधी है। परन्तु कर्म से इनका मेल नहीं बैठता और शंकराचार्य आदि ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं, कर्म से नहीं, क्योंकि कर्म में कुछ न कुछ अहंकार बना ही रहता है और अहंकार शून्य कार्य अकर्म हो जाता है, कर्म नहीं रहता। यहां अवतार सिंह भी कर्म को नहीं, जीव के

ज्ञान और भक्ति या ज्ञानसम्पन्न भक्ति को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि उदासीनों के 'भक्ति ज्ञान समुच्चय' से इसमें भिन्नता है। यहां 'ज्ञान सम्पन्ना भक्ति' को ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

परमात्मा को कहीं ढूंढने के लिए जाना वास्तव में बहुत हास्यास्पद है, चाहे किसी धर्म स्थल कहलाने वाले स्थान में ही जाएं। एक विदेशी विद्वान ने लिखा है— Nearer the church farther the God. अर्थात् मंदिर के जितना निकट जाओगे, परमात्मा उतना ही दूर होता जाएगा, क्योंकि जिसे घर के बच्चों में बालकृष्ण नहीं दिखाई दिए, उसे मंदिर में मोहन क्या दिखाई देंगे? जो परिवार में परमेश्वर नहीं देखता, वह वन में बनवारी को क्या देखेगा? सबसे निकट परमात्मा के लिए शोर मचाना भी निरर्थक है। कबीर लिखते हैं कि—

कंकर पाथर जोरि के मस्जिद लई बनाय।

ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय?

और परमात्मा कितना निकट है इसके लिए संत कबीर कहते हैं—

ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद ना काबे कैलास में।

कह कबीर सुनो मई साधो सब सासों की सांस में।

मो को कहां ढूंढता बंदे मैं तो तेरे पास में।

वेद कतेब यानी वेद-शास्त्रों का भी यही निर्णय है कि तत्त्व ज्ञानी संत को नमस्कार करके ही तत्त्व ज्ञान होता है जैसा कि गीता में कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः।

—गीता 4-34

अर्थात् हे अर्जुन तत्त्व दर्शी ज्ञानी के लिए नमस्कार, सेवा और प्रश्नादि करके ब्रह्म को जानना चाहिये। ये ही इसका उपदेश करते हैं।

मूल पद 215

इक्को इक्क दुनियां दा मलिक मन नूं गल समझाई इक।
 होर बखेड़े खत्म हो गए मुरशद तों गल पाई इक।
 इक दी पूजा इक्क दा सिमरन मुरशद अलफ़ पढ़ाई इक।
 जिस इक ने है बाकी रहणा बाबे राह विखाई इक।
 इक दे बाझों होर जो दिसदा एह सभ इत्थे रहणा ए।
 कहे अवतार इस इक दी बेड़ी रुह राणी ने बहणा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

सिर्फ एक दुनिया का मालिक मन कों वस्तु समझाई एक।
 और बखेड़े खत्म हुए सब, बात गुरु से पाई एक।
 एक की पूजा एक का सुमिरन गुरु की यह पढ़ाई एक।
 यही एक बस शेष रहेगा बाबा राह दिखाई एक।
 सिवा एक के सारी सृष्टि यह यहीं रह जाएगी।
 कहे अवतार आत्मा दूल्हन इस एक की नौका जाएगी।

अर्थ—महात्मा अवतार सिंह परमात्मा और इसे प्राप्त करने के विषय में कहते हैं कि मेरे मन को सद्गुरु ने एक ही बात समझाई है, वह यह कि इस सारी सृष्टि का मालिक केवल एक परमात्मा है। अपने गुरु से इस एक बात को समझकर सभी शंकाएं समाप्त हो गई हैं। तब से मैं इस एक की पूजा और स्मरण करता हूं, क्योंकि मेरे सद्गुरु ने मुझे इस एक की ही शिक्षा दी है अथवा अनुभव कराया है। सद्गुरु बाबा बूटा सिंह जी ने मुझे एक का ही मार्ग दिखाया है, इस एक का, जो (प्रलय के बाद भी) शेष रहेगा। इस एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य जो भी दिखाई देता है, वह माया है, प्रकृति है, इसे तो यहीं रह जाना है। बेगमपुर अथवा सत्य लोक में तो केवल जीवात्मा ही परमात्मा की नाव में बैठ कर जाएगी, माया नहीं।

व्याख्या—इस पद का मूल भाव यह है कि परमात्मा के अनेक रूप साकार में हैं, निराकार में नहीं। एक निराकार प्रभु परमात्मा ही एकमात्र लक्ष्य है और इसे प्राप्त करने का मार्ग भी एक है और वह है ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु। जो दृश्यमान है, वह माया है, परमात्मा नहीं। दृश्यमान की पूजा और स्मरण, परमात्मा की पूजा और स्मरण कभी नहीं हो सकते। अपने अनुभव के आधार पर कथित यह शास्त्र विरोधी भी नहीं, क्योंकि—

(1) दृश्यमान सब माया है—

गो गोचर जहं लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई।

—मानस

अर्थात् मन और इंद्रियों के अनुभव में आने वाली सब वस्तुएं माया हैं, ब्रह्म नहीं।

(2) असति सत् प्रतिष्ठितम् सति भूतं प्रतिष्ठितम्॥

—अथर्व वेद 17-1-19

अर्थात् (ब्रह्मलोक से लेकर तृण पर्यन्त, सब असत् या नाशवान पदार्थों में नित्य एक रस आत्मा व्यापक रूप से (स्थित) है ब्रह्म से भिन्न पदार्थ असत् कहे जाते हैं तथा सत् परमात्मा कहा गया है।

(3) अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

—गीता, 2-17

अर्थात्—हे अर्जुन जिस परमात्मा से यह (दिखाई देने वाला) नाशवान जगत बना है, तू उसे कभी नष्ट न होने वाला (अविनाशी) सर्वव्यापी तत्त्व जान।

(4) इक्को सिमरो नानका, जल थल रिहा समाय।

दूजा काहे सिमरिये, जम्मे ते मर जाय।।

—आदि ग्रंथ

अर्थात् एक अविनाशी सर्वव्यापी प्रभु का ही स्मरण करना चाहिए, किसी नाशवान वस्तु का नहीं।

जीवात्मा रूपी दुलहन को विवेक अथवा सत्संग की नाव में बैठकर ही मुक्ति मिल सकती है। यह नदी-नाव का रूपक संत वाणी में अनेक स्थलों पर समझाने के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे—

(क) है विवेक का जहाज मेरा।
दे उतराई बैठ सवेरा।
बेड़ा पार लगावें तेरा।
ये मल्लाह खड़े बुलावैं।
नहीं करता जबराई मैं।
सद्गुरु तुझे पार लगावैं।
सिर तार दे उतराई में।

—महात्मा गंगादास

(ख) क्षणमिह सज्जन संगतिरेका।
भवति भवार्णव तरणे नौका।

—आद्य शंकराचार्य

अर्थात् क्षण मात्र की सत्संगति ही इस भवसागर से पार होने के लिए नाव बनती है जिसमें जीवात्मा बैठकर बेगमपुर में अपने पति परमात्मा से मिलन का आनंद प्राप्त करती है।

मूल पद 216

तन रोगी मन भोगी होवे ते धन पाप कमाई दा।
 बेइतबारा बन्दा होवे करदा कर्म कसाई दा।
 हफ हफ करदा खप खप मरदा पल न चैन आराम करे।
 संगी साथी होण कुपत्ते कुल नूं दी बदनाम करे।
 जे अवतार करे गुरु बख्शिशा जन्मां दे फिटकारे ते।
 घर घर अन्दर पूज्या जावे आके इस दे द्वारे ते।

हिन्दी काव्यानुवाद

तन भी रोगी मन भी भोगी धन भी पाप कमाई का।
 बंदा बेयकीन हो कितना करता कर्म कसाई का।
 मारा-मारा फिरता मरता पल न चैन आराम करे।
 संगी साथी भी हो दुर्जन कुल को भी बदनाम करे।
 जन्म-जन्म का पापी भी जो आ जाए सतगुरु के द्वार।
 पा जाए जो गुरु की कृपा घर घर होती जय जयकार।

अर्थ—यदि किसी व्यक्ति का शरीर भी रोग ग्रस्त हो, मन विषयों में आसक्त हो, उसका धन भी पाप कर्म द्वारा एकत्र किया गया हो अर्थात् उसके तन-मन-धन तीनों ही मलीन हों, वह कठोर कर्म करने वाला हो और अविश्वसनीय (बेयकीन) भी हो, मारा-मारा फिरता हो, जहां जाता हो वहीं मार पड़ती हो, उसकी संगति भी दुर्जनों की हो और वह अपने कुल को भी कलंकित करने वाला हो। अवतार सिंह कहते हैं कि जन्म-जन्मान्तरों से पाप करने वाला ऐसा व्यक्ति भी गुरु को प्रसन्न करके उसकी कृपा (आत्म ज्ञान) प्राप्त कर ले तो वह भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए वन्दनीय—अभिनन्दनीय हो जाता है और घर-घर में उसका सत्कार होता है।

व्याख्या—(1) मनुष्य चाहे कितना भी पापी और दुराचारी हो (सत्संग और) ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करके वह सभी पाप पुण्य की सीमा से बाहर हो जाता है। ऐसा शास्त्र का वचन भी उपलब्ध है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
 सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।

—गीता 4-36

अर्थात् हे अर्जुन, यदि सब प्रकार के पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला तू है तो भी सारे घोर पाप के समूह को ज्ञान रूपी नौका से ही भली भाँति पार हो जाएगा।

(2) सुगोभिर्विश्वा दुरिता तरेम।

—ऋग्वेद

अर्थात् गुरु के तात्त्विक विषयों के ज्ञानों से सब पापों को हम पार करें।

(3) कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि जिनके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण हैं, उन पापी लोगों को प्रभु नहीं मिलते, परन्तु ऐसा सोचना पूर्णतया ठीक नहीं क्योंकि साकार सद्गुरु या अवतारी महापुरुष से मिलकर आत्मज्ञान प्राप्त करके ही, मन निर्मल हो सकता है। 'कामादि खल दल गंजन' तो राम ही हैं। मानसकार के अनुसार—

तब लगि बसहि हिये खल नाना ।
लोभ मोह मच्छर मद नाना ।
जब लगि हिय न बसहि रघुनाथा ।
लिये चाप कर सायक भाथा ।

—मानस

अर्थात् लोभ, मोह, मत्सर, मान आदि दुर्भावनाएँ हृदय में तभी तक रहती हैं जब तक हृदय में रामजी का वास नहीं।

विभीषण भी भगवान राम से अपना यही अनुभव इस प्रकार बतलाते हैं—

सुनहु देव सचराचर स्वामी ।
प्रनतपाल उर अन्तरजामी ।
उर कुछ प्रथम वासना रही ।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ।

—मानस 5-49-3

(विभीषण जी ने कहा) हे देव, हे चराचर जगत के स्वामी! हे शरणागत के रक्षक! हे सबके हृदय के भीतर के जानने वाले! सुनिए, मेरे हृदय में पहले कुछ वासनाएँ थीं। वह प्रभु के चरणों की प्रीति रूप नदी में बह गई।

मूल पद 217

तन दा सुच्चा मन दा सच्चा धन वी खून पसीने दा।
दिल दा कोमल ते विश्वासी कर्म करे मस्कीने दा।
सबर शुकर भरवासे वाला भजन बन्दगी आम करे।
संगी साथी सब गुणवन्ते कुल दा रोशन नाम करे।
एह सिफ़तां ने सारे सिफ़रे ज्ञान दा एका लगा नहीं।
कहे अवतार बिना गुरु पूरे होन्दा पूरा सगा नहीं।

हिन्दी काव्यानुवाद

तन का पावन मन का निर्मल धन हो नेक कमाई का।
दिल का कोमल, विश्वासी हो करता कर्म भलाई का।
राम रज़ा में राजी रहता भजन सुबह और शाम करे।
संगी साथी सब गुणवन्ते कुल का रोशन नाम करे।
यह 'शून्य' हैं, सारे जब तक ज्ञान का 'एका' लगा नहीं।
कहे अवतार बिना गुरु पूरे होता कोई सगा नहीं।

अर्थ—पूर्व पद के विपरीत—यदि किसी व्यक्ति के तन-मन-धन तीनों स्वस्थ निर्मल और पवित्र हों, दिल भी कोमल हो, सब का विश्वासनीय हो और संतों जैसे कार्य करता हो। हरि इच्छा में संतोष करके सुबह शाम भजन करने वाला और सब को नमस्कार करके चलने वाला हो, उसकी मित्र मंडली भी गुणवान हो और वह अपने कुल का नाम रोशन करनेवाला सब की प्रशंसा का पात्र हो तो भी ये सारे गुण शून्य ही हैं। अवतार सिंह कहते हैं— इन सारे शून्यों की कुछ कीमत तभी है जब इनके बाई ओर ब्रह्मज्ञान का एका (1) लग जाए और यह काम केवल सद्गुरु ही कर सकता है, क्योंकि उसके बिना कोई और निकटवर्ती नहीं होता। (इस पद का अर्थ यह है कि सारे सुख और गुण होने पर भी उनका मूल्य मानव के लिए कुछ भी नहीं, यदि प्रभु परमात्मा की जानकारी इस जीवन में न हुई।)

व्याख्या—गणित के इस सिद्धान्त द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि तन-मन-धन के सारे सुख और सम्पत्ति के शून्य एकत्र हो रहे हैं। शून्य कितने भी हों, मूल्य शून्य ही है। ब्रह्मज्ञान एक का अंक (1) है। इसका अकेले का ही मूल्य है और शून्यों के बाई ओर लगने पर यह उनको भी उपयोगी और मूल्यवान बना देता है।

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

गज-बाजि घटा भले भूरि भटा,
 बनिता सुत भौंह तर्कें सब वै।
 घरनी, धनु धाम सरीरु भलो,
 सुर लोकहु चाहि इहै सुख स्वै।
 सब फोकट साटक है तुलसी,
 अपनो न कछु सपनो दिन द्वै।
 जरि जाउ सो जीवनु जानकी नाथ,
 जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै।

अर्थात्—हे मानव, हाथी घोड़ों के समूह, वीरों की बड़ी सेना, आज्ञाकारी पत्नी और पुत्र, जमीन, धन (चल और अचल सम्पत्ति) मकान, स्वस्थ शरीर आदि चाहे तेरे पास इतनी धन सम्पत्ति हो कि स्वर्ग के देवता भी उसकी इच्छा करते हों, तो भी यदि राम को जानकर उनकी भक्ति तूने नहीं की, तो वह सम्पत्ति भी सब व्यर्थ है और ऐसा जीवन भी जल जाय तो अच्छा है।

मूल पद 218

मुश्किल है कि बन्दा कोई तेरी रहमत दे गुण गाए।
 मुश्किल है कि बन्दा कोई तेरे भाणे नूं अजमाए।
 मुश्किल है कि बन्दा कोई मुनकर होवे ते सुख पाए।
 मुश्किल है कि बन्दा कोई बाझ गुरु दे बख्शा जाए।
 कखां दे अम्बार होण जे इक चिणंग चा करदी ढेरी ए।
 कहे अवतार कणी वख्शिश दी पापां लई बथेरी ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

मुश्किल है कि बन्दा कोई तेरी कृपा के गुण गाए।
 मुश्किल है कि बन्दा कोई तेरी इच्छा को अजमाए।
 मुश्किल है कि बन्दा कोई राम विमुख होकर सुख पाए।
 मुश्किल है कि बन्दा कोई बिना गुरु के मुक्ती पाए।
 ईधन के अम्बारों को चिनगारी राख बना देती है।
 कहे अवतार कृपा गुरु की सारे पाप जला देती है।

अर्थ—महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि हे प्रभो तेरी कृपा का वर्णन करना तथा तेरी इच्छा (संकल्प) का अनुमान करना बहुत कठिन है। अर्थात् यह पूर्ण रूप से सम्भव नहीं। तुझसे विमुख (मायालिप्त) होकर कोई सुखी नहीं हो सकता। इसी तरह यह भी मुश्किल है कि कोई साधक बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त करके पापों से छूट जाए। जैसे ईन्धन के भारी समूह को अग्नि की एक चिंगारी भस्म कर देती है, इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान भी पाप कर्मों को भस्मसात कर देता है।

व्याख्या—इस पद का मूल भाव यह है कि परमात्मा के कार्यक्रम और कृपा का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। 2. राम-विमुख (भक्तिहीन) को सुख नहीं मिलता और 3. गुरु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ही व्यक्ति अकर्म की स्थिति प्राप्त करता है अथवा ब्रह्मज्ञान से सभी पाप कर्म (अहंकार युक्त कर्म) नष्ट हो जाते हैं। आगे प्रत्येक पर विस्तृत विचार करेंगे।

(1) अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभिपश्यति।
 कृसानि या च कर्त्वा॥

—ऋग्वेद 1-25-11

अर्थात् ज्ञानी इस परमात्मा के विराट रूप में भूत-भविष्यत् वर्तमान के अनेक आश्चर्य करने वाले कर्म देखता है।

- (2) अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तत्त्वादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्।

—गीता, 11-16

हे विश्व के स्वामी, अनेक भुजा, उदर, नेत्र, रूप वाले में आपको चारों ओर देखता हूँ। आप इतने विशाल हैं कि आपका आदि, मध्य और अन्त मैं कहीं भी नहीं देखता हूँ।

- (3) मायालिप्त राम विमुख को कभी सुख नहीं मिलता, इस विषय में गोस्वामी जी का यह कथन कितना सटीक है—

अंधकार बरु रविहि नसावै।
राम विमुख न जीव सुख पावै।
हिम ते अनल प्रगट बरु होई।
विमुख राम सुख पाव न कोई।

—मानस 7-122-18 से 19

यानी चाहे अंधेरा सूर्य को निगल जाए और चाहे बर्फ से अग्नि निकलने लगे परन्तु राम विमुख को कभी सुख नहीं मिल सकता।

- (4) यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

—गीता 4-37

अर्थात्—हे अर्जुन, जैसे जलती अग्नि लकड़ियों को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि भी पुण्य, पापात्मक सब कर्मों को भस्मीभूत (निर्बीज) कर देती है, जिससे देह का देवारा जन्म नहीं होता।

मूल पद 219

गुण इक वी न पल्ले होवे औगुण भरे भण्डारे होण।
 चाल चलन ते बदचलनी दे दाग वी लग्गे सारे होण।
 गोडे गोडे होवे कंगाली वाल वाल करजाई होए।
 हर थां ते सत्कारया जावे जे सत्गुर परवान करे।
 कहे अवतार गुरु दी बख्शिाश मुर्दे नूं रुह दान करे।

हिंदी काव्यानुवाद

एक भी गुण पल्ले न जिसके, दुरजन पापाचारी हो।
 कामी कपटी कुटिल कुचाली पातक सिर पे भारी हो।
 दीन हीन असहाय अकिंचन रोम रोम ऋण छाया हो।
 रिश्ते नाते टूट चुके हों हर कोई बना पराया हो।
 शरण में ले ले यदि गुरु उसे सबसे पाता है सत्कार।
 ऐसे मृतक समान पतित को नव जीवन दे गुरु, 'अवतार'।

अर्थ—यदि किसी व्यक्ति में एक भी गुण न हो और अवगुण अनेक हों, चरित्र से भी वह अनेक प्रकार से कलंकित हो, कंगाली में घंसा हो और कर्जे से भी उसका बाल बाल बिधा हो, सगे सम्बन्धी भी उसे छोड़ चुके हों और सारा समाज उसका दुश्मन बन गया हो, ऐसे पतित व्यक्ति को भी यदि सद्गुरु अपनी शरण में ले लेता है, तो प्रत्येक स्थान पर उसका सम्मान होने लगता है। सद्गुरु की कृपा मुर्दे को भी नवजीवन प्रदान कर देती है।

—गङ्गा—(1) इसका कारण यह है कि सद्गुरु की कृपा से उसे परमात्मा का ज्ञान हो जाता है और ज्ञान सर्वत्र पूजनीय और अभिनन्दनीय होता ही है क्योंकि—

जापे कृपा राम की होई।
 तापर कृपा करे सब कोई।

—मानस

(2) द्वापर युग के सद्गुरु भगवान भी अपने शिष्य अर्जुन से कहते हैं—

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

अर्थात् मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, तू चिन्ता न कर।

3. ऋग्वेद : 2-23-5 में भी कहा गया है कि जो परमात्मा की शरण में आ जाता है, उसे कोई सांसारिक बाधा दुख नहीं देती, उसे कोई नहीं छूता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शत्रु (अरातयः) भी प्राप्त नहीं होते। ऋचा यह है—

न तमंहो नदुरितं कुतश्चन नारातयस्तिरुर्न द्रव्याविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो विधाधसे यं सुगोपा रक्षति ब्राह्मणस्तपे।

(4) हनुमान जी ने विभीषण से यही तो कहा था—

कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबही विधि हीना।
प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।

अस मैं अघम सखा सुनु, मोहू पर रघुवीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे विलोचन नीर।

—मानस; सुन्दरकाण्ड 5-7

इस प्रकार हनुमान जी, जो अपने को अभागा और सब विधि हीन मानते थे, श्री राम की शरण में जाकर पूज्य और बन्दनीय हो गए थे।

(5) सद्गुरु शरणागत बत्सल तो होते ही हैं—

कोटि विप्र बध लागहि जाहू।
आए शरण तजौ नहि ताहू।
सनुमख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहि तबही।

—मानस, 6 44-1/2

राम कहते हैं कि करोड़ों ब्राह्मणों की हत्या का पाप भी यदि किसी को लगा हो, मैं उसे भी अपनी शरण में ले लेता हूँ (क्योंकि) जब कोई (पापी) जीव मेरे सामने आ जाता है तो उसके करोड़ों जन्मों के पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

अवतार वाणी का यह पद उन व्यक्तियों को विशेष प्रेरणा प्रदान करता है, जो अपने को पापी समझ कर ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी नहीं मानते। सद्गुरु के सामने जिज्ञासु के पाप कर्म कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि सद्गुरु (साकार ब्रह्म) पतित-पावन होता है। तभी तो बाइबिल में कहा गया है—द प्रोफेट हैज द पावर टु फारगिव द सिन्स आन अर्थ (The profet has the power to forgive the sins on earth) अर्थात् सद्गुरु में पृथ्वी के पापों को क्षमा करने की शक्ति होती है।

अतः अवतार वाणी का यह पद अत्यन्त प्रेरणादायक और शास्त्र सम्मत है, जो वाणीकार के अपने अनुभव पर भी आधारित है।

मूल पद 22v

अपणे मुंह वडियाइयां मंग के तूं चाहना एं उच्चा होणा।
निन्दया नफरत वैर'च पल के तूं चाहना ए सुच्चा होणा।
मुड़ मुड़ मक्के काशी जाके तूं समझे दिल पापी धो लां।
कर कर पुन्न दान दिन राती चैन दी नींदर चाहवें सौं लां।
कर्मा ने कुछ कर नहीं सकणा गुर दी शरणां आणा पैसी।
कहे अवतार गुरु दे दर ते अपना सीस झुकाणा पैसी।

हिन्दी काव्यानुवाद

अपना यश तू आप कराके चाहता है अपना सम्मान।
निंदा, नफरत वैर में पल के चाहे यह हो जाऊं महान्।
फिर फिर काबा काशी जाके तू समझे तन पापी धो लूं।
कर कर पुण्य दिन रैन चैन की निद्रा चाहे सो लूं।
कर्म जाल कुछ नहीं करेगा शरण गुरु की आना होगा।
कहे अवतार गुरु के दर पर अपना शीश झुकाना होगा।

अर्थ—अपने लोगों से अपनी प्रशंसा करा कर तू सम्मानित होना चाहता है। निंदा, घृणा, वैर-विरोध के आधार पर तू पवित्र होने का इच्छुक है। इस प्रकार न सम्मान ही मिलेगा और न पवित्रता ही। काबा काशी आदि तीर्थों में बार-बार जाकर अपने पापी मन के मैल (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि) दूर करना चाहता है और रात दिन दान, पुण्य आदि कर्मों से तू सुख की नींद सोना (मुक्ति) चाहता है। यह सम्भव नहीं क्योंकि तेरे (अच्छे-बुरे) कर्म इस दिशा में (मुक्ति प्राप्ति हेतु) कुछ भी तेरी सहायता नहीं करेंगे। इसके लिए तो तुझे सद्गुरु की शरण में आकर उन्हें नमस्कार करके (ब्रह्म ज्ञान से) ही तेरा उद्धार हो सकता है।

व्याख्या—सांसारिक मान, सम्मान, अभिनन्दन, प्रतिष्ठा, गौरव, अभिमान आदि मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं। कहा भी है—

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं नरक रौरवम्।
अभिमानं सुरापानं, त्रयंत्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

अर्थात् संत के लिए प्रतिष्ठा सुअरी की विष्ठा, गौरव भयानक नरक और अभिमान मद्यपान के समान हैं। इन तीनों का त्याग करके महात्मा को सुखी होना चाहिए।

तीर्थ और दान से मुक्ति नहीं मिलती, इसका कारण यह है कि ज्ञान के अभाव में तीर्थ दान कर्म आदि अभिमान के कारण होते हैं। क्योंकि उनमें कर्तापन का अहंकार तो किंचित मात्रा में रहता है, इसलिए तीर्थ, दान, यज्ञ आदि कर्मों से मुक्ति शास्त्र भी नहीं मानते। इस विषय में शंकराचार्य का यह मत द्रष्टव्य है—

कुरुते	गंगासागर	गमनं
व्रत	परिपालनमथवा	दानम्।
ज्ञानविहीनः		सर्वनतेन
मुक्तिं न भजति	जन्म	शतेन॥

अर्थात् जो गंगासागर आदि तीर्थों में जाते हैं, जो व्रत करते हैं, दान करते हैं, उन सब को ब्रह्म-ज्ञान के बिना सौ जन्मों तक भी मुक्ति नहीं मिलती।

मूल पद १११

सत्गुरु चाहे हर बंदे तों हर इक कम करवा सकदा ए।
 पिगले तों पर्वत पार करा गूंगे तों राग गवा सकदा ए।
 जे सत्गुरु दी रहमत हो जाए पलट जाण तकदीरां वी।
 इक इक करके नसदियां जावन मन मतियां तदवीरां वी।
 पूरे गुरु दी शरण प्यां जम्मां दी फाही मुक जावे।
 कहे अवतार गुरु सिख दे साहवें जम्म वी आउंदा रुक जावे।

हिन्दी काव्यानुवाद

सद्गुरु चाहे हर बन्दे से हर इक काम करा सकता है।
 पंगू पर्वत पार करे औ गूंगा गीत सुना सकता है।
 कृपा मिल जाए यदि सद्गुरु की मिलते हैं सौभाग्य सभी।
 एक एक कर भाग जाएंगे मोह जनित दुर्भाग्य सभी।
 पूरे गुरु की शरण प्राप्त कर चक्र चौरासी लुक जावे।
 कहे अवतार पास गुरुसिख के यमराज भी आता रुक जावे।

अर्थ—सद्गुरु (समय का अवतार) यदि चाहे तो किसी भी व्यक्ति से कुछ भी करा सकता है क्योंकि वह प्रकृति की सभी शक्तियों का मालिक होता है। उसकी कृपा से लंगड़ा पर्वतों को पार कर सकता है, गूंगा गीत गा सकता है, राग सुना सकता है। सद्गुरु की कृपा से व्यक्ति का दुर्भाग्य भी सौभाग्य में बदल सकता है। पूरे (तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ) सत्गुरु की शरण प्राप्त होने से आवागमन समाप्त होकर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। युग पुरुष महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि गुरु के कृपापात्र ऐसे ज्ञानी, भक्त अथवा संत के सामने आता हुआ यमराज भी रुक जाता है। अर्थात् मृत्यु भी उसकी दासी हो जाती है।

व्याख्या—पूरा सद्गुरु अथवा सच्चा संत अपने कृपापात्र शिष्य को ब्रह्मज्ञान प्रदान करके ब्रह्म रूप ही बना देता है 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु. उ. २/१९) ऐसा उपनिषद् का वचन है यानी ब्रह्म को जान कर व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाता है। सद्गुरु के आशीर्वाद से, यहां तक कि उसकी दृष्टि मात्र से ही निर्बल भी बलवान हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के अनुसार—

तुलसी राम सुदीठि, ते निबल होय बलवान।
बैर बालि सुग्रीव के कहा कियो हनुमान।

—तुलसी दोहावली, 110

अर्थात् प्रभु की कृपापूर्ण निगाह पड़ने से निर्बल भी बलवान हो जाते हैं। बालि और सुग्रीव के बैर में हनुमान ने क्या किया ?

बालि और सुग्रीव का बैर बड़ा पुराना था और हनुमान भी सुग्रीव के काफी समय से अंगरक्षक थे। सुग्रीव बालि से रोज़ पिटता रहा, लुटता रहा और उसके डर से शहर छोड़कर ऋष्यमूक पर्वत पर भयभीत होकर रहता था। उस समय हनुमान जी भी उनकी कोई सहायता नहीं कर सके। परन्तु राम की कृपापूर्ण दृष्टि जब हनुमान पर पड़ी तो निर्बल हनुमान भी बलवान हो गये और फिर तो वे समुद्र लांघने और पर्वत उठाने तक के अलौकिक कार्य करने में सक्षम हो गये। इस बात को हनुमान जी ने स्वयं स्वीकार किया है—

साखामृग कै बड़ि मनुसाई।
साखा ते साखा पर जाई।
लांघि सिन्धु हाटकपुर जारा।
निश्चर गन बधि विपिन उजारा।
सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।

—मानस-5-33

और भी

राम कृपा बल पाइ कपिन्दा।
भए पच्छजुत मनहुं गिरिन्दा।

—मानस-5½35

अर्थात् राम की कृपा का बल प्राप्त करके निर्बल बन्दर भी इतने बलवान हो गए मानो पंखधारी (उड़ने वाले) पर्वत हों।

इस प्रकार देव-दानव संग्राम, कौरवों-पांडवों का महाभारत, रामादल और रावणादल में उन्हीं की विजय हुई जिनके साथ समय के अवतार का आशीर्वाद रहा था, चाहे उनकी शक्ति कितनी ही कम रही हो, परन्तु पैगम्बर (तत्त्वदर्शी संत) की कृपा से उन्होंने विजयश्री प्राप्त की।

'पिगले तों पर्वत पार करा गूंगे तों राग गवा सकबा ए'—सद्गुरु की कृपा में इतनी शक्ति है कि उसके द्वारा असम्भव कार्य भी सम्भव हो सकते हैं। शास्त्रों की यह उक्ति भी इसका समर्थन करती है—

मूकं करोति वाचालं पंगुं लघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहम बंदे परमानन्द माधवम्॥

अर्थात्—

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोले, रंक चले सिर छत्र घराई।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौ तेहि पाई।

सूरसागर 1/1

यही बात गीता और वेद में भी इस प्रकार कही गई है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्ममः॥

—गीता 18/78

अर्थात् (संजय धृतराष्ट्र को समझाकर) कह रहे हैं कि यह अटल नीति (नियम) है और मेरा भी मत है कि जहां योगेश्वर (ब्रह्मनिष्ठ) कृष्ण हैं और उनके कृपापात्र (निश्छल भक्त) अर्जुन हैं, वहीं पर उसी पक्ष में लक्ष्मी, विजय और वैभव रहता है। इस संदर्भ में वेद का मत भी दृष्टव्य है—

यस्मिन् विश्वा अधिश्चियो रणन्ति सप्त संसदः ।

इन्द्रं सुते हवामहे।

—ऋग्वेद 8/92/20

अर्थात् जिस पक्ष में परमात्मा का अधिकार रहता है अथवा जो परमात्मा के भरोसे पर रहता है, राज्य लक्ष्मी, धन धान्यादि, सम्पत्ति और सब प्रकार की शोभाएं वहीं रहती हैं। (सप्त संसदः) मूः, भवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, ये सात लोक अथवा शरीर में रहने वाली रक्त मज्जादि सात धातुएं अथवा शरीर को धारण करने वाले प्राण अपानादि सात वायु अथवा राज्य चलाने के लिए विद्वानों की सात संस्थाएं (रणान्ति) वहीं शोभा पाती हैं। (सुते) हम भक्त जन अपनी आत्मा में ब्रह्मानन्द-रस के प्राप्त होने पर (इन्द्रम्) सारी सम्पदाओं के स्वामी प्रभु की (हवामहे) स्तुति करते हैं और परमात्मा की भक्ति में आनन्दित होते हैं।

वैसे तो कण-कण में प्रभु का ही रूप है, परन्तु सद्गुरु के रूप में यह सर्वाधिक कृपालु है, जो प्रकृति के आधीन जीव को ब्रह्मज्ञान द्वारा त्रिगुणतीत करके, चौथे पद में पहुँचा कर प्रकृति का तन्त्र समाप्त कर देता है। जीव को अलौकिक शक्ति सम्पन्न, स्वतंत्र और जीवनमुक्त बना देता है।

मूल पद 228

इक नूं जाण के घट घट अन्दर सभनां दे नाल प्यार करन।
 इक नूं जाण के घट घट अन्दर सभनां दा सत्कार करन।
 गुण गावन नित ऐसे इक दे ऐसे दा दीदार करन।
 ऐसे इक दे नाल जोड़ के बेड़ा जग दा पार करन।
 स्वास स्वास इस इक नूं सिमरन दूजा कदे ध्यावन ना।
 कहे अवतार ओह पूरे गुरसिख इक नूं कदी भुलावन ना।

हिन्दी काव्यानुवाद

एक को जानें घट घट अन्दर फिर सबही से प्यार करें।
 एक को जानें घट घट अन्दर सबका ही सत्कार करें।
 गुण गाएं नित इसी एक का इसका ही दीदार करें।
 इसी एक के साथ जोड़ के जग का बेड़ा पार करें।
 स्वास स्वास इस एक को सुमरें किसी और को ध्याएं ना।
 कहे अवतार भक्त वही जो इसको कभी भुलाएं ना।

अर्थ—अनन्य भक्ति का स्वरूप बतलाते हुए महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि प्रभु के अनन्य भक्त वे हैं जो सर्वव्यापी निरंकार परमात्मा का घट घट में दर्शन करके सबसे ही प्रेम करते हैं और उन्हें प्रभु-रूप समझ कर सब का सत्कार करते हैं। (सबके माध्यम से) इस एक का दर्शन और गुणगान करते हैं। प्रभु के ऐसे अनन्य भक्त ही परमात्मा के साथ जोड़ कर संसार का उद्धार करने वाले (परोपकारी महात्मा) होते हैं। ये भक्त हर श्वास में इस एक प्रभु का ही स्मरण करते रहते हैं। अन्य किसी (मायावी वस्तु) का ध्यान कभी करते ही नहीं। (सहज समाधि युक्त) प्रभु के अनन्य भक्त वही हैं, जो कभी भी इस (एक प्रभु) को भूलते नहीं।

व्याख्या—भक्तों की रहनी अथवा सहज समाधि युक्त प्रेमाभक्ति का ऐसा ही वर्णन शास्त्र सम्मत है—

- (1) सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
 मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।

—तुलसी: मानस

हे हनुमान, मेरा अनन्य भक्त वह है जो मेरे रूप, सभी जड़-चेतन को अपना प्रभु और स्वयं को सेवक समझता है।

(2) अथर्ववेद (3-8-6) में कहा गया है कि हे भक्त जनो, विश्व को मेरा ही चेतन रूप समझो और विश्व की सेवा ही मेरी भक्ति जानो।

(3) मुण्डकोपनिषद् (3-1-3) में भी कहा गया है कि तत्त्वदर्शी सारे विश्व को ब्रह्म रूप देखता हुआ समदृष्टि प्राप्त कर लेता है।

(4) ईशावास्यं इदं सर्वं यत्किञ्चित्तज्जगत्यां जगत्। —ईशोपनिषद्-।

(इस जगत में सभी जड़ चेतन ईश्वर का आवास है।)

(5) संतो सहज समाधि भली।

साईं ते मिलन भयो जा दिन ते सुरत न अनत चली।
आंख न मूंदू कान न रूंधूं काया कष्ट न धारूं।
खुले नयन से हंस-हंस देखूं सुन्दर रूप निहारूं।
कहूं सो नाम, सुनूं सो सुमिरन, जो कुछ करूं सो पूजा।
गृह उजाड़ एक करि जाने, भाव न आनो दूजा।
जहं-जहं जाऊं सो परिकरमा, जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोऊं तो करों दण्डवत पूजाँ और न देवा।

—कबीर

इस प्रकार अनन्य भक्ति और सहज समाधि का यह निरूपण अन्य संतों एवं शास्त्रों से पूर्णरूपेण अनुमोदित है।

मूल पद 230

ज्ञान दे बाझों पाठ ते पूजा हनेरे ठोकर खाणा ए।
जांप ताप से वरत प्रेम सभ अपना आप गलाणा ए।
पुन्न दान इश्नान हवन यज्ञ नित तीरथ ते जाणा ए।
हत्थीं अपणी जड़ है पुटणी होमे रोग बधाणा ए।
होमे रोग दा है जो ज्ञान मुदपाद विन कोई जाणे ना।
कहे अवतार बिना गुरु पूरे बंदा खुशियां माणे ना।

हिन्दी काव्यानुवाद

बिना ज्ञान के पाठ व पूजा तम में ठोकर खाना है।
जप तप नेम और व्रत सारे अपना आप गलाना है।
पुण्य, दान, स्नान, हवन, यग, नित तीरथ में जाना है।
अपना मूल आप ही काटें, 'मैं' का रोग बढ़ाना है।
अहंकार का रोग कभी सद्गुरु-औषधि विन जाए ना।
कहे अवतार बिना गुरु पूरे मानव आनंद पाए ना।

अर्थ—ब्रह्म ज्ञान के बिना पाठ-पूजादि करना अहंकार में ठोकरें खाना है। जप, तप, नियम व्रतादि कर्मकाण्ड भी अपने जीवन को स्वयं नष्ट करना है। इसी प्रकार दान, पुण्य, स्नान, हवन, यज्ञादि और तीर्थ स्पर्श भी अहंकार बढ़ाने वाले हैं और इनमें लगे रहना तो अपनी जड़ स्वयं ही काटना है क्योंकि इनका भी अहंकार हो जाता है और प्रभु अहंकार के कारण उसके लिए और दूर हो जाते हैं। सद्गुरु रूपी वैद्य की ब्रह्मज्ञान रूपी औषधि के बिना अहंकार का रोग समाप्त होना सम्भव नहीं। युगपुरुष अवतार सिंह कहते हैं कि पूर्ण गुरु के बिना प्रभु-मिलन का सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—जप, तप, व्रत, आसन, नियम, हवन, पुण्य, दान, स्नान, तीर्थ आदि कर्म-काण्ड स्वास्थ्य के लिए तो लाभदायक हो सकते हैं, परन्तु इनसे ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं। मुक्ति ज्ञान से ही होती है और ज्ञान गुरु से ही होता है। कहा भी है—

बिन ज्ञान नहीं यह राम मिले तुम चाहे उपाय हज़ार करो।
अरु ज्ञान मिले गुरु के मुख से सब ग्रंथन की वर साख भरो।
सब साधन दूर धरो तब लों जब लों गुरु पूर्ण तलास करो।
हमने यह सागर जान लिया तुम गागर को पकड़े न फिरो।

—हंस

इस संदर्भ में आदि शंकराचार्य के ये श्लोक उल्लेखनीय हैं—

न स्नानेरपि कीर्तनेरपि जपेनां कृच्छ्र-चान्द्रायणरे।
नो वाप्यध्वर-यज्ञ-दान-निगमैर् नो मन्त्र-तन्त्रैरपि।
कैवल्यं पुरुषस्य सिध्यति परब्रह्मात्मा-लक्षणम्।
प्रत्यग् ब्रह्म-विचार पूर्वम् भयोर एकत्व बाधाद् बिना॥

—आचार्य शंकर कृत गुरु बोध सार (विनोबा), पृ. 26

अर्थात् न स्नान से, न कीर्तन से, न जप या कष्टपूर्वक किए हुए चान्द्रायण व्रत से, न अखण्ड यज्ञ, दान या वेदाध्ययन से, न मन्त्र-तंत्र से ही मानव को अन्तरात्मा और परमात्मा (विश्वात्मा) की एकरूपता के विचारपूर्वक ज्ञान के बिना परब्रह्म के साथ एकात्मता का लक्षण रूप कैवल्य सधता है।

गुरु-वेदांत वाक्येषु बुद्धिर्या निश्चयात्मिका।
सत्यं इत्येव सा श्रद्धा निदानं मुक्ति सिद्धये।

—वही

अर्थात् 'गुरु के वेदांत वाक्य सत्य है' ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि ही श्रद्धा है, जो मुक्ति-सिद्धि के लिए साधन रूप है।

अन्य संतों की वाणियों में भी इसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। यथा—

आसन मारे क्या हुआ मरी न मन की आस।
तेली केरा बैल ज्यों, घर ही कोस पचास।
जिन खोजा तिन पाइयां पार ब्रह्म घट माहिं।
यह जग बौरा हो रह्या इत उत दूढ़न जाहिं।

जो व्यक्ति बिना गुरु-ज्ञान के केवल ग्रन्थों के अध्ययन से परमात्मा की प्राप्ति चाहते हैं, वे ऐसे हैं, जैसे कोई टेलीफोन के बिना केवल डायरेक्टरी का पाठ करके ही कॉल मिलाना (बात करना) चाहता हो। जैसे दूरभाष के बिना डायरेक्टरी का कोई उपयोग नहीं, उसी प्रकार गुरु (ब्रह्म वेत्ता महात्मा) के बिना ग्रन्थों के पठन-पाठन का कोई लाभ नहीं होता। गीता 11-48 में भी यही कहा गया है

एक बार एक महात्मा से मैंने पूछा कि पाठ करने अथवा कराने का क्या लाभ? वे बोले— आजकल लोग पाठ का अर्थ ही भूल गए हैं। पाठ का अर्थ है पा कर ठहर जाओ (पा=पाकर, प्राप्त करके और ठ= ठहरना) परन्तु ये प्रभु को (गुरु से) प्राप्त नहीं करते, इसीलिए ठहरते भी नहीं। 'मंगल भवन अमंगल हारी' आदि रात दिन गाते रहने से यह अच्छा है कि पहले सद्गुरु से इस 'मंगल भवन' की पहचान तो की जाए।

पूजा पाठ व्रत आदि इसलिए भी व्यर्थ हैं कि इन कर्मों को करने वालों को अक्सर यह पता नहीं होता कि हम किसका पाठ? किसकी पूजा? किसके लिए व्रत कर रहे हैं? पति

परमात्मा का पता नहीं और व्रत शुरू कर दिये। जैसे कोई कुमारी कन्या करवा चौथ का व्रत विवाहित महिलाओं की नकल करके करने लगे तो क्या लाभ ? जब पति का ही अभी पता नहीं तो उसके लिए व्रत का भी क्या लाभ ? इसी प्रकार अविवाहित का सोलह शृंगार (मेक-अप) केवल व्यर्थ ही नहीं, बल्कि उसके चरित्र के प्रति शंका और उत्पन्न कर देता है। तभी तो नरसी मेहता ने अपनी वाणी में लिख दिया कि—

जब लगि आत्मतत्व नहीं चीन्हे सबै साधना झूठी।

झूठी और हानिकारक इसलिए कि उलटा अहंकार ही बढ़ाएगी। मैंने इतना दान, इतना तप, इतने यज्ञ किये। गीता (3-2) में कहा गया है कि अहंकार के कारण मूर्ख व्यक्ति अपने को कर्ता मान लेता है, जबकि सारे कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। फिर इस अहंकार की बीमारी से कैसे बचे ?

इसका उपाय भी युगपुरुष बतलाते हुए कहते हैं कि गुरु द्वारा दिए गए ब्रह्म-ज्ञान से ही अहंकार का रोग भिट सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि—

तदाचार्य प्रसादेन वाक्यार्थ ज्ञानतः क्षणात्।

देहेन्द्रियमनः प्राणाङ्कृतांश्च प्रथक्स्थितम्॥

—अध्यात्म रामायण, किष्कि, तृतीय सर्ग, 30

अर्थात् दीक्षा के समय गुरु-कृपा द्वारा वाक्यों के अर्थ ज्ञान से जिज्ञासु अपने को इन्द्रिय मन प्राण अहंकारादि से पृथक् (अलग) जानता है। अर्थात् उसके अहंकारादि समाप्त हो जाते हैं।

मूल पद 240

अल्लाह ईश्वर गाड वाहेगुरु ऐसे दे हन सारे नाम।
 राम मुहम्मद नानक ईसा इक तो इक प्यारे नाम।
 निरंकार इस समे दा नां है, एह बी कोई पुकारे नाम।
 बिन वेखे बिन जाणे ऐ पर कम न औण उचारे नाम।
 पहलों दर्शन मगरों प्रीति फेर भावें कोई जाप करे।
 कहे अवतार बिना रब्ब वेखे जाप नहीं विरलाप करे।

हिन्दी काव्यानुवाद

अल्लाह, ईश्वर, गाड, वाहेगुरु इसके ही हैं सारे नाम।
 राम मुहम्मद नानक ईसा एक से एक पियारे नाम।
 निरंकार है नाम आज का यह भी कोई पुकारे नाम।
 बिन देखे बिन जाने इसको विरथा कोई उचारे नाम।
 पहले दर्शन पीछे प्रीति फिर चाहे कोई जाप करे।
 कहे अवतार बिना हरि देखे जाप नहीं विरलाप करे।

अर्थ—अल्लाह, ईश्वर, गाड, वाहेगुरु आदि इस (एक परमात्मा) के ही सारे नाम हैं। (इनके अतिरिक्त प्राचीन अवतारों पुरुषों के) राम, मुहम्मद, नानक, ईसा आदि एक से बढ़कर एक प्रिय नाम हैं और इस नाम से भी अनेक व्यक्ति प्रभु को पुकारते हैं, परन्तु (ईश्वर नामक पदार्थ को जाने बिना) इस परमात्मा का दर्शन किये बिना अथवा इसका ज्ञान हुए बिना प्रभु के प्रत्येक नाम के उच्चारण व्यर्थ ही हैं। प्रभु का पहले दर्शन (अपरोक्षानुभूति अथवा ज्ञान) हो जाता है, तो पीछे इस (हरि) से प्रेम (स्वयमेय) होता है। इसके पश्चात् यदि कोई जप अथवा स्मरण करता है तो वह लाभदायक और आनंदप्रद तथा मुक्त करनेवाला है। हरि को देखे बिना जो जप करता है, वह जप नहीं प्रलाप ही है।

व्याख्या—इस पद में युगपुरुष ने यह भाव स्पष्ट किया है कि परमात्मा के जितने भी नाम विविध सम्प्रदायों में प्रचलित हैं, वे सब प्रभु के ही नाम हैं। प्रभु का संदेश देने वाले जितने अवतारी पुरुषों के नाम, प्रभु समझ कर लिए जा रहे हैं, वे भी सारे श्रेष्ठ हैं और एक से बढ़कर एक हैं, क्योंकि हरि को जानने वाला भी हरि का स्वरूप ही होता है। 'जानत तुम्हइ तुम्हइ होइ जाई' (मानस 2/127/3) और 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' अर्थात् 'ब्रह्म को जानकर व्यक्ति ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है' आदि शास्त्र-वचन इसका समर्थन

करते हैं। इसी प्रकार वर्तमान काल का 'निरंकार' नाम भी हरि का श्रेष्ठ नाम है तथा इसको प्रकट करने वाला (इसी नाम के पदार्थ अथवा तत्त्व का ज्ञान कराने वाला) सद्गुरु भी ब्रह्म का स्वरूप ही है।

अक्सर प्रश्न उठाया जाता है कि परमात्मा के अनेक नामों से सर्वश्रेष्ठ नाम कौन सा है? इसका एकमात्र उत्तर है कि जो नाम परम गुरु द्वारा दिया जाता है। वही मुक्तिदायक और सर्वश्रेष्ठ है। उदाहरण दृष्टव्य है—

(1) गुरुमन्त्रों मुखों यस्य तस्य सिद्धान्ति नान्यथा। अर्थात् जिसके मुख में गुरुमन्त्र (गुरु का दिया हुआ नाम) रहता है, यानी जो गुरुमन्त्र का जप रहता है, उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं, अन्य के नहीं।

—गुरुगीता 244

(2) संसार सागर समुद्धरणैकं मन्त्रम्।
ब्रह्मादि देव मुनि पूजित सिद्धमन्त्रम्।
दारिद्र्यदुःख भवरोग विनाशमन्त्रम्।
वंदे महा भय हर गुरुराजमन्त्रम्।

—गुरुगीता, 344

अर्थात् जो मन्त्र संसार सागर को उद्धार करने वाला एकमात्र साधन है, जो ब्रह्मादि देवों तथा मुनियों द्वारा पूजित सिद्ध मन्त्र है, जो दरिद्रता, दुःख, संसार रोग को नष्ट करने वाले गुरुराज मन्त्र है, उस को नमस्कार करता हूँ।

सभी नाम प्रभु के ही हैं, इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी।
अकथ अनादि सुसामुझि साधी।

—मानस 1/21/2

अर्थात् सभी नाम और रूप दोनों ईश्वर की उपाधि हैं। ये दोनों (नाम और रूप) अकथनीय, अनादि और शुद्ध (भक्ति युक्त) बुद्धि से ही इसका दिव्य स्वरूप जानने में आता है।

जब तक किसी वस्तु का ज्ञान न हो, तो उसका नाम बार-बार लेने से भी कोई लाभ नहीं होता। किसी वस्तु के ज्ञान और प्रयोग से ही लाभ सम्भव है, उसका नाम लेने मात्र से नहीं। 'भोजन-भोजन' कहने से किसी की भूख नहीं मिटती और न 'पानी-पानी' कहने से प्यास ही, बल्कि इन नामों की वस्तुओं को जान कर इनका प्रयोग करने से ही लाभ हो सकता है—

जो भोजन का भजन करे है।
रात दिना चाहे ध्यान धरे है।
बिन खाए क्या पेट भरै है?

—संत गंगादास

इसी प्रकार 'राम-नाम' कहने मात्र से तब तक कोई लाभ नहीं होता, जब तक राम नामक परमपदार्थ को जान कर इसका प्रयोग न किया जाए।

न गच्छांते बिना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।

बिनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्देन मुच्यते॥

—आदि शंकराचार्य: विवेक चूड़माण 64

, अर्थात् दवा को बिना पिये केवल 'दवा' शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म' कहने मात्र से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

किसी आधुनिक शायर का यह कथन भी उचित ही है—

वस्तु के बिना नाम कोई नाम नहीं होता।

सिर्फ नाम से दुनिया का कोई काम नहीं होता।

बीमारों को लाजिम है दवा व हकीम 'साकी'।

नुस्खों की इबादत से तो आराम नहीं होता।

इसीलिए युग पुरुष ने इस नियम पर बहुत बल दिया है कि 'पहले दर्शन पीछे प्रीति फिर चाहे कोई जाप (भक्ति) करें।' इसी नियम का समर्थन गोस्वामी तुलसीदास जी भी इस प्रकार करते हैं—

जाने बिन न होई परतीती। बिनु परतीत होइ नहि प्रीती।

प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।

—मानस 7/89/4

अर्थात् हरि को जानने से ही प्रतीति (अनुभव पूर्ण विश्वास) होती है आर प्रतीति के पश्चात् ही प्रेम होता है और तब भक्तिसम्भव है, अन्थया नहीं। यही क्रम सुग्रीव की भक्ति में चरितार्थ होता है।

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधव इन्ह भई परतीती।

बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।

उपज ज्ञान वचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अडोला।

—मानस 4/7/

अर्थात् सुग्रीव ने पहले अमित बल सम्पन्न राम को देखा, फिर प्रेम और विश्वास हुए। इसके बाद बार-बार उनके चरणों में सिर झुकाते की भक्ति उत्पन्न हुई, तब मन स्थिर और शान्त हुआ। ज्ञान होने पर सुग्रीव स्वयं बोल उठा, हे प्रभो, आपकी कृपा से मेरा मन स्थिर हो गया है, टिक गया है।

इससे स्वतः सिद्ध है कि गुरु-कृपा से तत्त्व ज्ञान हुए बिना भक्ति, सिमरन, जप आदि से न मुक्ति ही मिलती है और न भक्तियोग्य आनंद ही। तभी तो गीता के ग्यारहवें अध्याय

में पहले कृष्ण ने अर्जुन को तत्त्वज्ञान (निरंकार अथवा विराट स्वरूप का ज्ञान) कराया, ब्रह्म दर्शन कराया और इसके बाद बारहवें अध्याय में भक्ति का उपदेश दिया।

इसके अतिरिक्त स्कन्दपुराण के गुरु-गीता-प्रसंग के अनेक श्लोकों में भी यह स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि पहले गुरु से ज्ञान होता है, ज्ञान के पश्चात् ध्यान और भक्ति आदि की परिपक्व स्थिति की गयी है। भागवत का यह कथन कि 'ज्ञान भी भक्ति का सुन्दर फल है?' इसका विरोधी नहीं क्योंकि गुरु के प्रति श्रद्धा और प्रेम (श्रद्धा + प्रेम = भक्ति, ऐसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं) जब तक नहीं होता, तब तक ज्ञान भी नहीं होता! गीता का 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं' और अवतारवाणी का 'जेकर पंज प्रण ना मनिये शब्द बोध वी हुन्दा नहीं' आदि कथन इसी ओर संकेत करते हैं।

मूल पद 244

आलम होवे कुल इल्मां दा जग नू सबक पढ़ावे जे।
 हाकम दा मिल जावे रुतबा सभ ते हुकम चलावे जे।
 शूरवीर वी होवे भारा लम्मी उमर गुजारे जे।
 दुनियां भर दी दौलत होवे सुख वी होवण सारे जे।
 भन्नी कौड़ी मुल नहीं पैणा जो कुछ वी ओह करदा ए।
 कहे अवतार बिना रब जाणे मुड-मुड़ जमदा मरदा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

पण्डित सब विद्याओं का हो जग को पाठ पढ़ाए जो।
 अधिकारी हो ऊंचा रुतबां, सब पर हुकम चलाए जो।
 शूरवीर योद्धा भारी हो लम्बी उमर गुजारे जो।
 दुनिया भर की दौलत होवे सुख भी होवें सारे जो।
 फूटी कौड़ी भी मूल्य नहीं जो कुछ भी वह करता है।
 कहे अवतार बिना हरि जाने सदा जन्मता मरता है।

अर्थ—कोई सब विद्याओं का पण्डित भी हो और सबको पाठ भी पढ़ाता हो, चाहे बड़ा अधिकारी बन कर इतनी ऊंची पदवी प्राप्त कर ले कि सब उसकी आज्ञा मानते हों, चाहे कितना भी वीर और लम्बी आयु वाला भी हो, संसार की सारी सम्पत्ति और सुखों का मालिक भी चाहे वह बन जाए, तब भी यदि उसने अपने जीवन काल में हरि को नहीं जाना तो उसके सुख-सम्पत्ति की कीमत फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं, क्योंकि उसके मानव योनि प्राप्त करके भी हरि-ज्ञानजन्य मुक्ति प्राप्त करके अपने जीवन का लक्ष्य पूरा नहीं किया अतः कुछ भी नहीं किया।) महात्मा अवतारसिंह कहते हैं कि हरि के ज्ञान बिना वह बार-बार जन्म लेता है और मरता है अर्थात् उसे मुक्ति नहीं मिलती है।

व्याख्या—साकार माया में मस्त रहने वाले धनी और सबल दिखाई देने वाले व्यक्तियों के विषय में कहते हैं कि यहां का धन और बल कभी भी मुक्तिदाता नहीं हो सकता, क्योंकि—

कबिरा सब जग निर्धना, धनवन्ता नहि कोय।
 धनवन्ता सोई जानिए, राम नाम धन होय।

—कबीर

धन इतना बुरा नहीं जितना धन का लालच, क्योंकि वह लालच साधक का मन धन में ही लगाए रखता है, प्रभु की ओर नहीं जाने देता। अन्य संतों ने भी यही कहा है—

सौ पापन का मूल है, एक रुपैया रोक।
 साधु होय संग्रह करै, मिटे न संशय शोक॥
 धन जोबन यों जाएंगे, जैसे उड़त कपूर।
 'नारायण' गोपाल भज, क्यों चाटे जग धूर॥
 'नारायण' संसार में, भूपति भरे अनेक।
 मैं मेरी करते गए, ले न गए तून एक॥
 प्रभुता को सब मरत हैं, प्रभु को मरे न कोय।
 जो कोई प्रभु को मरे, प्रभुता चेरी होय।
 चार दिनन की चांदनी, यह संपत्ति संसार।
 रे मन क्यों भटकत फिरत, भज श्री नंदकुमार॥

मानस में हनुमान जी भी रावण को समझाते हैं कि राम विमुख (मन मुख) की सारी धन सम्पत्ति भी 'न हुई' के बराबर है।

राम विमुख सम्पत्ति प्रभुताई।
 जाइ रही पाई बिनु पाई।

—मानस 5/23/5

ऐसे अहंकारियों की वही हालत होती है, जो रावण की हुई थी। इतना ही नहीं, मायापति इस माया को अहंकारी के पास नहीं रहने देते और अपने भक्तों को, पद और धन सभी कुछ दे देते हैं क्योंकि वे इसका अहंकार नहीं करते। इसे ये प्रभु की जान कर सेवा में ही लगाते हैं।

जो सम्पत्ति सिव रावनहि दीन्ह दिये दस माथ ।
 सोइ सम्पदा विभीषनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ।

—मानस 5/49 (ख)

अर्थात् जो धन-वैभव रावण को अपने दसों सिर अर्पण करने पर शिवजी से प्राप्त हुआ था, वही राम ने संकोच के साथ विभीषण को दे दिया। संकोच इस बात का कि तुम्हारा प्रेम और भक्ति तो मेरे प्रति बहुत अधिक है, लेकिन यह धन-वैभव उसकी अपेक्षा बहुत कम और तुच्छ है।

इस संदर्भ में वेद की यह ऋचा भी दृष्टव्य है—

अति वा यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निनित्सात्।
 तंपूर्षि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्योः।

—ऋग्वेद 6-52-2

(अर्थात् जो मनुष्य अपने आप को बड़ा मानने वाला, धन और मान की मस्ती में मस्त

है, जो अपने आप को बड़ा पूज्य मानता और मुझ परमात्मा की निंदा करता है, उस आसुरी जीव के लिए तपस्यादि कर्म भी पाप रूप हो जाते हैं। आकाश अथवा सूर्य उस आसुरी जीव को नष्ट कर देता है।

इस संदर्भ में गोस्वामी तुलसी दास जी ने कवितावली में कितने विश्वासपूर्वक कहा है—

सुर राज सो राज-समाज समृद्धि विरंचि, धनाधिप सो धन भो।
 पवमान सो, पावक सो, जम-सोम सो, पूषन सो, भवभूषन भो।
 करि जोर, समीरन साधि समाधि कै, धीर बड़ो बसहू मन भो।
 सब जाय सुभाय कहे तुलसी जो न जानकी जीवन को जन भो।

अर्थात् यदि कोई इन्द्र जैसा राजा, ब्रह्मा जैसा वैभवशाली, कबेर जैसा धनवान, पवन सा (तीव्रगामी), अग्नि सा (तेजस्वी), यम और चन्द्रमा जैसा, सूर्य जैसा विश्व भूषण, महायोगी प्राणायामी, समाधिस्थ, मन को वश में करने वाला धैर्यवान भी है तो तब तक व्यर्थ (बेकार) है, जब तक वह हरि का भक्त (प्रभु प्रेमी) नहीं बनता।

गोस्वामी तुलसीदास जी अन्यत्र भी यही भाव व्यक्त करते हुए कहा है कि—

गोस्वामी भगत सुपच भलो, भजै रैन दिन राम।
 ऊंचे कुल केहि काम को, जहां न हरि को नाम॥

—तुलसीकृत वैराग्य संदीपनी-38

कन्ना बाझों सभ दी सुणदा हत्थां बाझों कार करे।
 बिन लत्तां दे तुरदा फिरदा पिंगला पर्वत पार करे।
 बिन नक दे लए वाशना बिन जीभा राग सुणांदा ए।
 बिन अक्खों एह सभ कुझ वेखे, पेट बिना एह खांदा ए।
 रूप बिना एह बहुरूपिया, कई रूपां विच आंदा ए।
 कहे अवतार अलख दी लखता, सद्गुरु सिर्फ़ करांदा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

बिना कान के सब की सुनता बिन कर के सब कार करे।
 बिन पैरों के चलता फिरता, पंगु पर्वत पार करे।
 गंध ग्रहण कर बिन नाक के बिन रसना राग सुनाता है।
 बिना नयन यह सब कुछ देखे, पेट बिना यह खाता है।
 रूप बिना यह बहुरूपिया, कई रूप धर आता है।
 कहे अवतार अलख की लखता सतगुरु सिर्फ़ कराता है।

अर्थ—(निरंकार का वर्णन करते हुए) युग पुरुष कहते हैं कि यह (परमात्मा) बिना कानों के ही सब की बात सुन लेता है, बिना हाथों से सब काम करता है, बिन पैरों के चलता है, और उसकी कृपा से लंगड़ा भी पर्वतों को लांघ सकता है। बिना नाक ही गंध ग्रहण करता है, बिना जीभ के राग सुनाता है, आंखों के बिना ही सबको देखता रहता है, बिना पेट ही खाता है, यद्यपि इसका कोई रूप नहीं तो भी अनेक रूपों में यही विराजमान है। ऐसे निरंकार ब्रह्म का दर्शन (अपरोक्षानुभूति) केवल सद्गुरु ही करा सकता है।

व्याख्या—यद्यपि परमात्मा निराकार है परन्तु सब आकार इसी के हैं, स्वयं अरूप, परन्तु सब रूप इसी के हैं, यह स्वयं हाथ, पैर, इंद्रियों आदि रहित है परन्तु सब के हाथ, पैर, इंद्रियां आदि इसी की हैं और यह सब की इंद्रियों द्वारा ही कार्य करता है। जैसे विजली स्वयं नहीं घूमती, पर सब पंखे इसी से घूमते हैं, स्वयं नहीं जलती, पर सब ट्यूब्स और बल्ब इसी से जलते हैं, स्वयं नहीं दौड़ती दिखाई देती, पर सारी ट्रेनें इसी से दौड़ती हैं।

1) निरंकार परमात्मा को 'अरूप' और 'बहुरूपिया' दोनों नाम से कहा गया है। दोनों का वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध है, जैसे—

(7) 'पिंगला पर्वत पार करे' का भाव भी अत्यन्त प्राचीन है, जो 'भूकं करोति वाचालं पंगु लंघयते गिरिम' के आधार पर ही व्यक्त हुआ है। सूरदास जी भी कहते हैं—

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै,
अंधे को सब कछु दरसाई।

—सूरदास-।

उपनिषद् का ऋषि भी यही भाव प्रकट करता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थात् इस प्रकार जब मनुष्य परमात्मा को भली भाँति पहचान लेता है, जब उसकी सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टि हो जाती है, जब वह सब प्राणियों में एक ही तत्त्व परमात्मा को देखता है, तब उसे सदा सर्वत्र आत्म तत्त्व (निरंकार) के दर्शन होते रहते हैं। उस समय उसके मन में शोक मोह आदि विकार कैसे रह सकते हैं ? वह तो एकत्व के दर्शन करके इतना आनंदमग्न हो जाता है कि शोक, मोह आदि की छाया भी उसके मन में नहीं रह जाती। लोगों की दृष्टि में वह सब कुछ करता हुआ भी अपने प्रभु में ही क्रीड़ा करता है। उसके लिए प्रभु और प्रभु की लीला के अलावा अन्य कुछ रह ही नहीं जाता। यही बात प्रकारान्तर से गीता अध्याय 6 श्लोक 3। में भी कही गई है कि "जो व्यक्ति एकीभाव में स्थिर होकर सब जड़ चेतन के आत्म रूप से स्थित मुझ (सद्गुरु) सच्चिदानन्द को भजता है, वह योगी सब कार्य करता हुआ भी मुझ में ही बरतता है।"

इस प्रकार के अनेक गूढ़ अर्थों को अपने में समाहित करके अवतार-वाणी का यह पद ब्रह्म के निर्गुण और सगुण स्वरूप पर सरलता से प्रकाश डालने में सक्षम है, जो भारतीय वेदान्त परम्परा के सर्वथा अनुरूप है।

सतजुग अन्दर ऐसे ने ही आ प्रह्लाद बचाया सी।
 त्रेता दे विच मार के रावण द्वापर कृष्ण सदाया सी।
 ऐसे ने ही कलयुग अन्दर नानक नाम रखाया सी।
 ऐसे ने ही रूप बदल के बूटा ज्ञान दा लांया सी।
 आद तो है आपे इक्को जिसनूं जग निरंकार कहे।
 बचन गुरु दा है रब्ब आपे बार बार अवतार कहे।

हिन्दी काव्यानुवाद

सतयुग के अन्दर इसने ही आ प्रह्लाद बचाया था।
 त्रेता में था रावण मारा, द्वापर कृष्ण कहाया था।
 इसने ही कलयुग के अन्दर नानक नाम रखाया था।
 आदि काल से यही एक है जग जिसको निरंकार कहे।
 वचन गुरु का हरी स्वयं ही बार बार अवतार कहे।

अर्थ—(चारों युगों के विशेष अवतारों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि) इस निरंकार परमात्मा ने ही सतयुग में (नृसिंह रूप धारण करके) भक्त प्रह्लाद की रक्षा की थी, त्रेता युग में भगवान राम के रूप में अवतरित होकर इसने ही रावण का वध किया था, द्वापर युग में यही कृष्ण कहलाया था और कलयुग में भी इसी ने अपना नाम 'नानक' रख लिया था। वर्तमान में (बूटा सिंह का रूप धारण करके भक्तों के अन्तःकरण में) ब्रह्म ज्ञान का वृक्ष इसी ने लगाया है। आदि से अंत तक (आरम्भ से आज तक) यह परमात्म एक ही है, जिसे संसार निरंकार कहता है। महात्मा अवतार सिंह बार-बार कहते हैं कि सद्गुरु का वचन (ज्ञान) ही स्वयं परमात्मा होता है (शरीर नहीं, ज्ञान ही गुरु रूप परमात्मा है)।

व्याख्या—(1) नृसिंह, राम, कृष्ण आदि विख्यात अवतारों के साथ नानक, बूटा सिंह आदि को अवतारों में सम्मिलित करना वाणीकार की उदारता और सब जगह ब्रह्म दर्शन करने की उच्च भावना को प्रकट करता है। भारतीय दर्शन में जहां अवतारों की संख्या निश्चित करने की कोशिश की गई है, वहां सारे संसार को भी तो हरि-रूप ही कहा गया है—

हरिरेव जगत जगदेव हरि,
हरितो जगतो नहि भिन्न तनु।

—निगम गीता, भूमिका

- (2) गुरु का वचन (ज्ञान) ही ब्रह्म है, इसका स्पष्ट उल्लेख इस महामंत्र में है—
“प्रज्ञानं ब्रह्म”।

—ऋग्वेद

अर्थात् (गुरु का) ज्ञान ही ब्रह्म है।

- (3) ‘बार बार अवतार कहे’ के तीन अर्थ हैं—

(क) अवतार सिंह पुनः पुनः ऐसा कहते हैं। (बार = पुनः)

(ख) वे द्वार द्वार पर यह संदेश देते हैं। (बार = द्वार)

(ग) उनका रोम रोम यह कहता है। (बार = बाल, रोम)

जहां कवि अपनी कुशलता से एक शब्द में कई अर्थ भर देता है, वहां श्लेष अलंकार कहलाता है। अतः यहां भी श्लेष का सुन्दर प्रयोग है।

- (4) अवतारों की संख्या आदि पर यहां कोई विचार न करके केवल यह कहा गया है कि एक परमात्मा ही विभिन्न युगों में विभिन्न अवतार धारण करता है और ब्रह्म ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु भगवान ही होता है। इसका समर्थन अन्यत्र भी प्राप्त है—

(क) गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरु साक्षात्परब्रह्म तस्मैः श्री गुरवे नमः॥

—गुरु गीता

(ख) स्वामी होके दास में

तू ही भरम नास करता है।

जड़ तिमिर तेरे प्रकाश में

दिन रात रास करता है।

—संत गंगादास

- (5) अवतारवाणी अवतारवाद पर उतना ही विश्वास करती है जितने अन्य अनेक वैष्णव सम्प्रदाय करते हैं, परन्तु उसका यह संकेत अधिक स्पष्ट है कि उक्त भक्त का उद्धार उसी के समय का कोई अवतार संत या महापुरुष ही कर सकता है। पुराने युगों में अवतरित महापुरुष वर्तमान समय में पराविद्या प्रदान नहीं कर सकते। भगवान कृष्ण से अर्जुन ने ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी, परन्तु अवतार सिंह के समय में यह सम्भव नहीं था। अतः बूढासिंह से यह कार्य हुआ। अवतारसिंह का स्पष्ट मत यह है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म तो एक ही है, अतः शरीरों की भिन्नता से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता—

इस दृष्टि का यही विवेक। यह भी देख वह भी देख।

देख देख में ऐसा देख। सब कुछ मिट जाए रह जाए एक।

मूल पद 260

चौरासी नूं चार खाणियां दे विच बण्डया सिरजनहार।
अण्डज जेरज सेतज उद्भुज इस दे विच है कुल संसार।
कर्म करे जिस ऊपर साईं बंदा उसनूं दए बणा।
गुरु मिले तां बंदा ओहो बण जांदा है आप खुदा।
संतां बाझो इस रमज तों परदा कोई नहीं लाह सकदा।
कहे अवतार गुरु दे बाझों रब नां कोई विखा सकदा।

हिन्दी कान्यानवाद

चौरासी को चार भाग में किया विभाजित सिरजनहार।
अण्डज पिडज स्वेदज उद्भिज इनके अन्दर सब संसार।
जिस पर कृपा कृपालू की मानव उसे बनाता है।
सद्गुरु मिल जाए तो मानव आप खुदा हो जाता है।
बिना संत के रहस्य राम का प्राणी ना कोई पा सकता।
कहे अवतार बिना गुरु कोई ना हरि का दरस करा सकता।

अर्थ—ब्रह्म (परमेश्वर) ने चौरासी लाख योगिनों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है। अण्डज (अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी), पिडज (पिण्ड से पैदा होने वाले मानव, बैल, भैस आदि), स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले जूं, पिस्सू आदि) और उद्भिज (धरती फोड़ कर निकलने वाले वृक्ष लता पौधे आदि) इन चारों के अन्दर ही कुल प्राणी जगत आ जाता है। इनमें से जिस प्राणी पर प्रभु की विशेष कृपा होती है, उसे मानव की योनि प्रदान करता है। मानव पर यदि संयोगवश सद्गुरु की कृपा हो जाए अर्थात् वह ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव (दर्शन) कर ले तो वह मानव स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म निष्ठ संतों (महात्माओं) के अतिरिक्त माया का पर्दा हटाने में और कोई समर्थ नहीं हो सकता। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि सद्गुरु के बिना मानव को ब्रह्मानुभूति (हरि दर्शन) कोई अन्य नहीं करा सकता।

व्याख्या—युगपुरुष ने इस वीर छन्द में जीवों की चार श्रेणियों, मानव जन्म की दुर्लभता, सद्गुरु द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करके मानव का स्वयं ब्रह्म बन जाना आदि का वर्णन किया है। जैसे—

(1) चार खाणियां—वेदांत दर्शन के विख्यात ग्रंथ व्यास कृत ब्रह्मसूत्र 3-1-21 से सिद्ध

होता है कि स्वेदज को कहीं-कहीं उद्भज के अन्तर्गत माना गया है। छान्दोग्योपनिषद् 6/3/1 में भी इन श्रेणियों की चर्चा इसी प्रकार है। तुलसीदास जी भी—

आकर चारि लाख चौरासी।

जाति जीव जल थल नभ वासी।

—मानस 1/8/1

यह कहकर जीवों की इन चार खाणियों पर प्रकाश डालते हैं। इनका वर्णन मनुस्मृति प्रथम अध्याय के श्लोक 43 से 48 तक में भी विस्तृत रूप से किया गया है। पद्मपुराण में शिव-गीता का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

अण्डजाः पक्षिसर्पाद्या स्वेदजा मशकादयः।

उद्भज वृक्षगुल्माद्या मानुषाया जरायुजाः।

अर्थात् पक्षी सर्प आदि अण्डज हैं, मच्छरादि स्वेदज हैं, वृक्ष-लतादि उद्भज हैं और मनुष्यादि जरायुज (पिंडज) हैं, जिन्हें युग पुरुष ने 'जेरज' कहा है।

(2) जिस पर प्रभु की विशेष कृपा होती है, वह मानव बनता है, जो जीवों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। प्रभु को पहचानने की 'विवेक शक्ति' से सम्पन्न होने के कारण ही मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है।

(अ) भागवत 7-6-1 में कहा गया है कि—

'दुर्लभं मानुष जन्म तदप्यध्रुवमदर्थम्' अर्थात् मनुष्य जन्म दुर्लभ है और मनुष्यों में भी वह दुर्लभ है जो परमात्मा की भक्ति करता है।

(आ) बड़े भाग मनुष तन पावा।

सुर दुर्लभ सद् ग्रंथन्हि गावा।

—मानस 7-43-7

(इ) संत वाणी में भी कहा गया है—

दुर्लभ मानुष जन्म है, होत न बारम्बार।

तरुवर ज्यों पत्ता झड़े वहुरि न लागै डार।

का मुख लै हंसि बोलिए तुलसी दीजै रोय।

जन्म अमोलक आपनो चले अकारथ खोय।

(3) गुरु मिले तां—अर्थात् अनेक जन्मों के पुण्य उदय होने पर तो मानव जन्म मिलता है। मानवों में भी सबको सद्गुरु नहीं मिलता (यदि मिलता है तो उन्हें विश्वास नहीं होता जो न मिलने के बराबर ही है।)

हजारों मनुष्यों में कोई एक आध ही सद्गुरु के तत्त्व रूप (निराकार स्वरूप) को जान पाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

—गीता 7-3

अर्थात्, कृष्ण भगवान कहते हैं कि हजारों मनुष्यों में कोई मनुष्य ही मेरी (सद्गुरु की) प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में भी कोई ही व्यक्ति मेरे (निराकार रूप) को तत्त्व से जानता है।

(4) बंदा बण जांदा है आप खुदा—अर्थात् सद्गुरु की कृपा से ब्रह्मज्ञानी मनुष्य ब्रह्म निष्ठ होकर स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

(अ) वेदान्त में जीव और ब्रह्म की एकता (अद्वैत) का प्रतिपादन सर्वत्र मिलता है। क्योंकि—

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अनेन वेद्यं सच्छास्त्रं इति वेदान्तडिडिम्।

—आदि शंकराचार्य

(गुरु बोध सार (विनोबा), पृष्ठ 80)

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है। जो भी उत्तम शास्त्र है, वह सारा इसी से जानें। यह वेदान्त का डंका है।

परन्तु वेदान्त के इस अद्वैत की मर्यादा है। वह यह ज्ञान, भावना और तीनों लोकों में अद्वैत करें, परन्तु कर्म और गुरु में कभी अद्वैत न करें।

(आ) गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि—

सो जानइ जेहि देहु जनाई।

जानत तुम्है तुम्हहि होइ जाई।

—मानस

अर्थात् सद्गुरु रूप में आप जिसे अपना ज्ञान देते हो, उसी को आपका (तत्त्व) ज्ञान होता है और आपको जान कर जीव भी आप (ब्रह्म) ही हो जाता है।

(इ) उपनिषद् का भी वचन है कि—

ब्रह्म विद ब्रह्मैव भवति

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।

—मुण्डकोपनिषद् 2-9

(ई) दरिया की हुबाब से है ये सदा

मैं और नहीं तू और नहीं।

मत जान मुझे अपने से जुदा

मैं और नहीं तू और नहीं।

आइना मुकाबिले मुख जो धरा

तब बोल उठा यूँ अक्स उसका

क्यूँ देख के हैरौ यार हुआ

मैं और नहीं तू और नहीं।

—स्वामी रामतीर्थ

वेदान्त के इस अद्वैतवाद का एक उर्दू शायर ने कितना सुन्दर चित्रण किया है—
बार बार तेरा दामन हाथों में मेरे आया।
जब आंख खुली देखा मेरा ही गरेबां है।

मूल पद 262

चन्न भुलेखे मुंह विच अग्न नूं जिवें चकोरा पा लैन्दा ए।
 फुल दी गोदी बह के भंवरा जिहां जान गंवा लैन्दा ए।
 लख पतंगे इक शमां ते सड़-सड़ के मर जांदे ने।
 कई पपीहे स्वात बूंद लई अपना आप गुवांदे ने।
 एह सभ प्यार ने इक पासे दे दूजे नूं कुझ सार नहीं।
 कहे अवतार बिना गुरु पूरे प्यार दा बेड़ा प्यार नहीं।

हिन्दी काव्यानुवाद

ज्यों चकोर चांद के भ्रम से अगन-अंगारा खा लेता है।
 कुसुम की कोमल गोद बैठ के, भंवरा जान गंवा देता है।
 लाख पतंगे एक शमा पर जल जल कर मर जाते हैं।
 कितने चातक स्वाति बूंद हित अपनी जान गंवाते हैं।
 ये सब प्यार हैं एक तरफ के दूजे को कुछ सार नहीं।
 कहे अवतार बिना गुरु पूरे प्रीति की नैया पार नहीं।

अर्थ—जैसे चकोर (चन्द्रमा से प्रेम करने के कारण) अंगारे को चन्द्रमा समझ कर मुंह में रख लेता है और जल जाता है, जैसे भंवरा फूल के सम्पुट में बैठ कर अपनी जान से हाथ धो बैठता है। इसी प्रकार अनेक पतंगे शमा (दीप-शिखा) पर जल कर मर जाते हैं और चातक (पपीहे) भी स्वाति बूंद के लिए तड़प कर प्यासे मर जाते हैं। इन चारों के प्रेम में तो कोई कमी नहीं थी परन्तु इनकी हानि इसलिए हुई कि ये प्यार इक तरफा थे, दूसरे (प्रेम-पात्रों) को तो कुछ पता ही नहीं था कि हम से कोई प्यार भी कर रहा है महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि प्रेम की नैया गुरु के बिना पार नहीं होती अर्थात् वास्तविक प्रेम-तत्व गुरु ही समझता है और यह प्रेम इकतरफा नहीं होता और न इस प्रकार हानिकारक ही होता है। यह प्रेम आनंदप्रद है, हानिकारक नहीं।

व्याख्या—प्रेम की गाड़ी हमेशा दो पहियों पर ही चलती है। एक प्रेमी और दूसरा प्रेम-पात्र। यदि प्रेमी तो प्रेम में दम तोड़ जाए और प्रेम पात्र को पता भी न हो, तो यह इकतरफा प्रेम (वन-साइडिड लव) प्रेम नहीं, बल्कि भ्रांति है, धोखा है, क्योंकि—

इश्क का मज़ा है जब दोनों हों बेकरार।
 दोनों तरफ हो आग बराबर लगी हुई।

चकोर, भंवरा चातक और पतंगा जिन्हें दुनिया प्रेम का आदर्श मान बैठी है, इसी प्रकार प्रेम नहीं, बल्कि प्रेम की भांति मात्र हैं, क्योंकि दूसरी ओर से तो कोई प्रतिक्रिया होती ही नहीं। मेरठ के संत कवि गोविंदराम ने क्या खूब कहा है—

मीन मरे जल के बिछड़े, जल नेकु दया नहीं मीन की माने।
चातक स्वाति की बूंद रटै, स्वाति न चातक को पहचाने।
चन्द्र की चाह चकोर मरै, चाह चकोर की चन्द्र न जाने।
ऐसी प्रीति लगी न भली, प्राण भी जायं तो प्रीत न माने।

क्या लाभ ऐसी प्रीति और भक्ति का। हम आए दिन समाचार-पत्रों में पढ़ते रहते हैं कि अमुक भक्त ने भगवान की मूर्ति के आगे अपनी जान दे दी, अपने पुत्र की बलि चढ़ा दी, अथवा किसी और का बलिदान कर दिया। युगपुरुष कहते हैं कि यह भक्ति या प्रेम नहीं। अपने पिता जी के जड़ फोटो के सामने रोने से आपको कुछ न मिलेगा। हां, अपने चेतन पिता के समक्ष प्रेम में रोओ तो बहुत कुछ मिल सकता है। पहले ब्रह्मज्ञानी गुरु से इस चेतन तत्व रूपी परम पिता की जानकारी अथवा पहचान करो, तो वह वास्तविक प्रेम अथवा भक्ति होगी। क्योंकि इस प्रेम में दूसरी ओर से प्रतिक्रिया और उत्तर भी मिलेंगे। हनुमान जी माता सीता को प्रभु प्रेम का रहस्य बतलाते हुए कहते हैं कि जो राम से जितना प्रेम करता है, राम उससे दुगुना प्रेम करते हैं—

जनि जननी मानहु जिय ऊना।
तुम से प्रेम राम के दूना।

—मानस 5-14-5

अर्थात् जितना प्रेम भक्त भगवान से करते हैं, उससे दुगुना प्रेम भगवान भक्त से करते हैं। यही वास्तविक प्रेम भक्ति है। अन्यत्र भी गोस्वामी जी कहते हैं कि बिना जानकारी के विश्वास नहीं हो सकता और बिना विश्वास के प्रेम अथवा भक्ति नहीं हो सकती। 'जाने बिनु न होइ परीतीती। बिन परतीत होइ नहिं प्रीती।' ऐसी उनकी स्पष्ट घोषणा और अनुभव है जो युग पुरुष के अनुभव के समक्ष ही है।

जिसको उर्दू फारसी के कवियों ने प्रेम का आदर्श मान लिया है, वह पतंगे आदि का इक तरफा प्रेम नाश के लिए तो हो सकता है परन्तु भक्ति या मुक्ति के लिए नहीं। क्योंकि—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा।
विशान्ति नाशाय समृद्धवेगाः।

—गीता 11/29

जैसे पतंगे नष्ट होने के लिए जलती हुई अग्नि में वेग से प्रवेश करते हैं। अर्थात् यह नाश के लिए है।

संत वाणियों में और अन्य ग्रंथों में जिसे प्रेम कहा गया है, वह सद्गुरु का प्रेम है—

हरि सम जग कोई वस्तु नहीं, प्रेम पंथ सम पंथ।

सद्गुरु सम सज्जन नहीं, गीता सम नहि ग्रंथ।

सद्गुरु इसीलिए सर्वाधिक हितैषी कहा गया है कि वह कण-कण में व्यापक प्रभु के प्रेम का पाठ पढ़ाता है; क्योंकि बिना ब्रह्म दर्शन के यह प्रेम सम्भव नहीं। सद्गुरु से ब्रह्म की पहचान करके फिर प्रेमपूर्वक जिस नाम से भी पुकारोगे तो दूसरी ओर से भी प्रतिक्रिया होगी। कहा भी है—

अल्लाह बोलिए चाहे राम बोलिए।

पहले पहचान के फिर नाम बोलिए।

यह प्रेम वास्तविक प्रेम होगा। संसार की तरह स्वार्थ के लिए केवल शाब्दिक प्रेम नहीं होगा, बल्कि दोनों ओर से हार्दिक प्रेम होगा। संतों और भक्तों का प्रेम इसी प्रकार का होता है—

लागी लागी क्या करै, लागी बुरी बलाय।

लागी सोई जानियो, आर पार ह्वै जाय॥

गढ़ गढ़ कै बातें कहै, मन में तनक न प्रीत।

'नारायण' कैसे मिलें, साहिव सांचे मीत॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहि।

प्रेम गली अति सांकरी, जामें दो न समाहि॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय।

राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय॥

'सीस देने' का अर्थ 'अहंकार समाप्त होना' है। जैसे ऊंट में तब तक 'बड़ेपन' का अहंकार रहता है, जब तक वह पर्वत को नहीं देखता। पर्वत देखते ही ऊंट का अहंकार टूट जाता है। इसी प्रकार सद्गुरु विशालतम ब्रह्म के दर्शन करा के जब शिष्य का अहंकार समाप्त कर देता है, तब प्रेम का आरम्भ होता है और यह इक तरफा नहीं, दो तरफा प्रेम होता है। इसी में भक्ति का आनंद निहित है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

सब कर फल हरि भगति सुहाई।

सो बिनु संत न काहू पाई।

मूल पद 295

होये निमाणा अते निताणा जिस नूं कोई पछाणे ना।
 गलियां दे कक्खां तो हौला जिस नूं कोई सिहाणे ना।
 बिन माया दे कदर न कीमत कोई एहनूं जाणे ना।
 ना कुल्ली ना जुल्ली होवे खाण नूं घर विच दाणे ना।
 लेखां दे विच लिखी गरीबी ना कुझ वी तकदीर करे।
 कहे अवतार एह मुरशद पूरा छिन पल विच अमीर करे।

हिन्दी काव्यानुवाद

दीन हीन असहाय प्राणी कोई जिसे पहचाने ना।
 गलियों के तिनके से निर्बल, जिसे कोई कुछ माने ना।
 बेचारा कंगाल दीन हो कोई जिसको जाने ना।
 भूखा नंगा बेघर होवे खाने को भी दाने ना।
 लिखी भाग्य में कंगाली हो कुछ भी ना तकदीर करे।
 कहे अवतार यह सद्गुरु पूरा पल में उसे अमीर करे।

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति बिलकुल मानरहित, असहाय और दीन भी है, जिसे कोई पहचानता भी न हो; गली में पड़े तिनके से भी अधिक निर्बल हो, जिसका कोई सम्मान भी न हो; धनहीनता के कारण न उसे कोई जाने, न आदर दे; घरहीन, वस्त्रहीन हो और खाने के लिए अनाज भी जिसे न मिलता हो; भाग्य में कंगाली लिखी रहने के कारण जिसका मुकद्दर बदलने की कभी सम्भावना भी न हो; महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि इस पूरे सद्गुरु में इतनी शक्ति है कि ऐसे अभागे और कंगाल व्यक्ति को भी यह पल भर में अमीर कर सकता है। अर्थात् नाम-धन देकर क्षण में उसका जीवन बदल देता है।

व्याख्या—इस पद का केन्द्रीय भाव यह है कि कोई कितना भी अधिक पापी, दीन, कंगाल और भाग्यहीन हो, यदि वह भी वर्तमान सद्गुरु की शरण में आ जाए तो उसका भी भाग्य बदल जाता है, वह पूर्ण सुखी हो जाता है। इस पद में 'एह मुशदि' का अर्थ वर्तमान सद्गुरु ही लेना चाहिए।

इस पद के उक्त भाव में शंका नहीं होनी चाहिए क्योंकि 'गुरुदेव परब्रह्म' अर्थात् गुरु ही परब्रह्म होता है (गुरु गीता-58)। अतः यह सब कुछ करने में समर्थ होता है। 'मूकं

कराति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम' आदि उक्तियां इसका समर्थन करती हैं।
 इस प्रसंग में भाई गुरुदास की वाणी का यह कवित्त भी द्रष्टव्य है—

चरन कमल गुरु कंचन मनूर भए,
 कंचन पारस भए पारस परस कै।
 वायस भये हैं हंस हंस ते परमहंस,
 चरन कमल चरनामृत सु रस कै।
 सेंवल सकल फल सकल सुगंध बास,
 सूकरी से कामधेनु करुना बरस कै।
 श्री गुरु चरन रज महिमा अगाधबोध,
 जोग वेद ज्ञान कोटि विसम नमस कै।

—गुरुदास के कवित्त सवैया, 249

अर्थात्—गुरु के चरण कमल की महिमा से लोहा स्वर्ण हो जाता है, स्वर्ण पारस बन जाता है (वह कंचन लोहा करे यह करे आप समान), कौवे हंस हो जाते हैं और हंस परमहंस (जीवन मुक्त) हो जाते हैं। गुरु चरण कमल के चरणामृत-रस से सेमर का नीरस फूल भी सुगन्धित फल में परिवर्तित हो सकता है। गुरु की दया दृष्टि से सुअरी भी कामधेनु बन जाती है। श्री गुरु चरणों की महिमा इतनी अगाध है कि लोक-वेद-ज्ञान की सभी कोटियों के लिये अगम है। इनसे सभी विषमताएं सुखों में बदल जाती हैं।

विभीषण की लंका में कोई प्रतिष्ठा, सम्मान, धन, सम्पत्ति आदि नहीं थी, बल्कि बात-बात पर लात लगती थी। उन्होंने अपनी स्थिति का स्वयं वर्णन किया है—

सुनहु पवन सुत रहनि हमारी।
 जिमि दसनन महँ जीभ विचारी।

परन्तु उसी दीन, हीन, कंगाल भयभीत प्राणी विभीषण को जब राम के कमल चरणों की कृपा प्राप्त हुई, तो सब कुछ बदल गया और गोस्वामी जी को भी यह लिखना पड़ा।

जो सम्पत्ति दस सीस अरपि करि रावन सिव सों लीन्ही।
 सो सम्पत्ति विभीषणाहि अति सकुच सहित हरि दीन्ही।

—विनय पत्रिका

इसी प्रकार हनुमान जी के जीवन में भी कितना परिवर्तन राम-चरण-कृपा से आया, इसका अनुमान उनका पहला जीवन देखकर ही हो जाता है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

कहहु कवन मैं परम कुलीना।
 कपि चंचल सबही विधि हीना।

प्रातः लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिले अहारा।

अस मैं अधम सखा सुनु, मोह पर रघुवीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे विलोचन नीर॥

प्रभु-कृपा को याद करके भक्त हनुमान की आंखों में आंसू आ गये। हनुमान पर अनंत कृपा हुई है। राम-मंदिर भी इतने नहीं जितने हनुमान-मंदिर देखे जाते हैं। गुरु-कृपा से पापी भी पूज्य बन जाता है।

पिछले अनन्त जन्मों के पापों का कर्म लेखा (रिकार्ड) भी गुरु कृपा से अथवा गुरु-ज्ञान से नष्ट हो जाता है। अर्जुन को, गुरु कृष्ण इसे भली भांति समझा कर कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

—गीता 4/36

अर्थात्—यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू गुरु-ज्ञान की नौका द्वारा निस्सन्देह सम्पूर्ण पापों से अच्छी तरह पार हो जाएगा, तर जाएगा, छूट जाएगा।

इस संदर्भ में वेद का यह मंत्र भी द्रष्टव्य है—

अया विष्ठा जनयन् कर्वाणि स हि घृणिरुर्वराय गातुः।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरणत॥

—अथर्ववेद 7-3-1

अर्थात्—गुरु प्रदत्त ब्रह्म ज्ञान से तेजस्वी हृदय वाला और ज्ञान मार्ग पर चलने वाला, इस नीची स्थिति से नित्य कार्यों को करता हुआ मुक्ति के लिए ऊपर उठता है। (उदैत=ऊपर उठता है, मुक्त होता है) क्योंकि वह स्वयं को प्रेरणा करता है।

पापी मनुष्यों की तो बात ही क्या, गुरु-कृपा से तो गिद्धादि पक्षी भी मुक्त हो सकते हैं। गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है—

'गीध अधम खग आमिष भोगी।
गति दीन्ह जेहि जाचत जोगी।'

इस प्रकार गुरु-चरण शरणागत व्यक्ति के समस्त पापों का लेखा समाप्त होकर नाम धन प्राप्त कर, मुक्त होने का कथन शास्त्रसम्मत और युगपुरुष का आर्ष वचन है अतः इसमें शंका वा सन्देह का कोई स्थान नहीं प्रतीत होता।

एह शरीर ब्रह्म नहीं ए ब्रह्म जो एहदे विच बोले।
 आपे नाच नचावे एहो इस माया दे वह ओले॥
 आपे इस मकान विच वह के लामकां दा बूहा खोले।
 कच दी हट्टी बैठा साईं हरदम सच दा सौदा तोले॥
 सच दी भाल'च बंदा ऐवें कच दा धोखा खांदा ए।
 कहे 'अवतार' गुरु ओह पूरा जो एह परदा लाहंदा ए॥

हिन्दी काव्यानुवाद

यह देह तो ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म जो इसके बिच बोले।
 यही नचाए नाच बैठकर सबको इस माया-ओले॥
 इस घर अन्दर आप बैठ के वेघर का जो द्वारा खोले।
 कांच हाट में बैठा स्वामी सदा सत्य का सौदा तोले॥
 चला हूँदने सांच को बंदा कांच में धोखा खाता है।
 कहे 'अवतार' गुरु वह पूरा जो परदा यह उठाता है॥

अर्थ—यह देह पांच तत्त्वों का संघात है अतः ब्रह्म नहीं। परन्तु जो जीव (कूटस्थ) इस शरीर में बोलता है, वह ब्रह्म है। इस मायावी देह के पर्दे में बैठकर आप ही इस देह को नाच नचाता रहता है। स्वयं इस शरीर में बैठकर अशरीर (निराकार) के दर्शन का द्वार खोलता है अथवा असत्य देह में प्रकट होकर सत्य ब्रह्म का ज्ञान कराता है। अर्थात् 'अधिकारी जिज्ञासुओं को ब्रह्म ज्ञान बांटता रहता है। सत्य की खोज में मानव असत्य माया में भटकता रहता है और माया के परदे में छिपे इस सर्वव्यापी ब्रह्म के दर्शन नहीं कर पाता। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि पूरे सद्गुरु की यह पहचान है कि वह माया का परदा हटाकर ब्रह्म के दर्शन करा देता है और अपनी शरण में आए हुए जिज्ञासु को जन्म मरण से मुक्त कर देता है।

व्याख्या—दृश्यमान जो भी है, वह माया है ब्रह्म नहीं। शरीर भी दृश्यमान होने से ब्रह्म नहीं। परन्तु इस देह के अन्दर जो अदृश्य जीव (देही अथवा आत्मा) बोलने आदि की क्रिया प्रकृति के द्वारा करा रहा है, वह ब्रह्म ही है। यहां युगपुरुष ने दो दावे किए हैं। एक तो सब दृश्यमान माया है और दूसरे जीव ही ब्रह्म है।

- (1) गो गोचर जहं लणि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई।

—मानस, 3-15-3

अर्थात् जो वस्तुएं इन्द्रियों और मन के विषय हैं, वे सब माया हैं। किसी शायर ने भी कहा है कि 'जो नजर की नजर में आए, जो समझ की समझ में आए, खुदा वह हो नहीं सकता।' अर्थात् वह माया है। मन बुद्धि और इन्द्रियों के विषय सब माया हैं, अतः शरीर को भी माया कहा है।

(2) जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन, अद्वैत वेदान्त का मूलाधार है। इसी की ओर युगपुरुष ने यहां संकेत किया है। इसके समर्थन में अनेक प्रमाण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। यहां कुछ प्रस्तुत करने उचित होंगे—

'ईश्वर' और 'जीव' इन दो उपाधियों का ठीक-ठीक निराकरण होने पर ईश्वर भी नहीं जीव भी नहीं। (जैसे) राजा की उपाधि राज्य और सिपाही की उपाधि छोटा गांव। दोनों उपाधियां समाप्त होने पर राजा राजा नहीं और सिपाही सिपाही नहीं।

—आदि शंकराचार्य : विवेक चूडामणि

यानी जैसे घड़े के अन्दर के आकाश को कोई 'घटाकाश' कहे और बाहर के आकाश को 'महाकाश'। घड़ा टूटने पर घटाकाश न महाकाश। केवल आकाश है। इसी प्रकार ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि पंचकोष (भाया का कार्य) समाप्त होने पर न जीव न ईश्वर। केवल एक चेतन तत्त्व (निरंकार) ही है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वस्थितम्।

—कठोपनिषद्, 1-3-22

अर्थात् परमात्मा शरीरों में स्थित होकर भी शरीर रहित है।

(3) इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् 2-2-11 में भी कहा गया है कि "अमृत रूप ब्रह्म सामने, पीछे, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर अर्थात् सब ओर फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व है और यह ब्रह्म श्रेष्ठ है।"

वेदांत दर्शन में बहुत मशहूर उक्ति है कि 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः हरितो जगतो नहि भिन्न तनु' अर्थात् हरि ही जगत् और जगत् ही हरि है। हरि और जगत् में भिन्नता नहीं।

यहां प्रश्न उठता है कि शरीर भी तो ब्रह्म से बने हैं, जीव और ब्रह्म अज्ञान में दो हैं, वास्तव में नहीं। जैसे किसी की आंखें ठीक न हों तो चांद भी दो दिखाई देने लगते हैं जबकि होता एक ही है।

(4) आप इस मकान विच बह के—आप परमात्मा ही सद्गुरु के शरीर में बैठके बिना शरीर वाले ब्रह्म के ज्ञान का द्वार खोलता है अर्थात् हरिदर्शन करा देता है। एक संत के शब्दों में—

स्वामी	होकर	दास	में,
तुही	भरम	नास	करता है।
जड़	तिमिर	तेरे	प्रकास में,
दिन	रात	रास	करता है।

—संत गंगादास

(5) 'गुरु-गोविन्द तो एक है' केवल कबीर ने ही नहीं कहा, बल्कि सभी संतों और ग्रंथों, की मान्यता यही है। भाई गुरदास का यह कवित्त इस संदर्भ में दृष्टव्य है—

निर्गुन सगुन के अलख अविगति रूप,
पूर्ण ब्रह्म गुरु रूप आप प्रगटाए हैं।
सरगुन श्री गुरु दरस के धिआन रूप,
अकल अकाल गुरु सिक्खन दिखाए हैं।

यानी अलख अरूप निराकार ब्रह्म ही गुरु में साकार (शरीर द्वारा) होता है और साकार गुरु के दर्शन तथा ध्यान करके ही उसमें निराकार अकाल परम पुरुष श्रद्धालु गुरु-शिष्यों (भक्तों) को दिखाई देता है। गोस्वामी जी भी इस विषय में यही मानते हैं—

चिदानंद मय देह तुम्हारी।
विगत विकार जान अधिकारी।

—मानस, 2-127-3

इसीलिए युग पुरुष ने कहा है कि माया का शरीर स्वेच्छा से धारण करके यह स्वयं ही अपने निराकार रूप का दर्शन जिज्ञासु को कराता है। इसी को कहा गया कि 'कांच की दुकान (शरीर) में बैठकर यह सच का सौदा (निराकार का ज्ञान) तौलता है।'

(6) सच दी भाल'च बन्दा ऐवें कच दा धोखा खांदा ए—माया को ही सब कुछ समझ कर मूर्ख जिज्ञासु भ्रांति में फंस जाता है, जबकि वह चला था ब्रह्म रूपी हीरे (सांच) को ढूंढ़ने के लिए। हीरे के बदले विषयों के कांच (माया) को ही एकत्र करने लगा—

नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुघा ते सठ विष लेहीं।
ताहि कबहुं भल कहै न कोई।
गुंजा गहइ परसमनि खोई।

—मानस 7-44-2

अर्थात् मनुष्य का दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी जो प्रभु के बजाय विषयों में मन लगाते हैं, वे शठ अमृत को छोड़कर विष ले रहे हैं। जो पारस मणि को फेंककर घुंघची उठाता है, उसे कौन अच्छा कहेगा? इसी भाव को वाणीकार ने कहा है कि मानव सांच को खोजते-खोजते कांच (चमकदार माया) में भ्रमित हो जाते हैं, धोखा खा जाते हैं।

(7) गुरु ओह पूरा जो एह परदा लाहंदा ए—माया का पर्दा हटाकर ब्रह्म दर्शन कराने की शक्ति केवल पूरे गुरु में ही होती है। इसीलिए तो वैदिक ऋषि भी गुरु से प्रार्थना करता है कि

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

—ईषावास्योपनिषद्, 15

यानी, "सत्य (ब्रह्म) का मुख माया के सुनहरी चमकदार ढक्कन से ढंका हुआ है, हे प्रभो, मुझ सत्य धर्मी के लिए तू वह पर्दा हटा, जिससे मैं सत्य के दर्शन कर सकूँ।" इसको सियारामशरण गुप्त ने इस प्रकार कहा है—

मुख आवरित है सत्य का उस पात्र से,
जो हेममय है विश्वपोषक हे प्रभो।
मुझ सत्य धर्मा के लिए वह आवरण,
तू दूर कर जिससे कि दर्शन कर सकूँ।

वेद की इस ऋचा से भी स्वतः सिद्ध है कि माया का यह आवरण (पर्दा) सद्गुरु ही उठाकर, निराकार सत्य के दर्शन करा सकता है और यही वास्तविक सद्गुरु की पहचान भी है कि वह माया का पर्दा हटाकर ब्रह्म दर्शन कराए तो पूरा सद्गुरु है, अन्यथा नहीं। इसी भाव को यहां कहा गया है कि 'कहे अवतार गुरु पूरा, जो परदा यह उठाता है।'

मूल पद 318

कोई हिन्दू कोई मुस्लिम कोई सिक्ख ईसाई ए।
हर किसे ने अपनी दुनियां वक्खो वक्ख बनाई ए।
खुद गरजी नूं रख के अपनी सांझ इन्हां विच पाणी चाहण।
मूरख बन्दे वेखो जग ते अगग नाल अगग बुझाणी चाहण।
एका कदी वी हो नहीं सकदा जे इक दी सोझी आवे ना।
कहे 'अवतार' बिना सतगुर दे इस नूं कोई समझावे ना।

हिन्दी काव्यानुवाद

कोई हिन्दू कोई मुस्लिम कोई सिक्ख ईसाई है।
सब ने अपनी अपनी देखो दुनिया अलग बसाई है।।
स्वारथ में अंधे होकर ये सोचें सुख बरसा लेंगे।
सोच रहे हैं मूर्ख बन्दे आग से आग बुझा लेंगे।।
बिना मूर्ख एक ईश्वर को जाने कभी एकता आए ना।
कहे अवतार बिना सतगुरु के इसको कोई समझाए ना।।

अर्थ—मनुष्य हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदाय, बना कर बैठ गया है तथा सबने मानो अपनी-अपनी अलग दुनिया ही बना ली है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने-अपने संकीर्ण स्वार्थों में फंस गया है। उन स्वार्थों को सर्वोपरि रखकर ही वह एकता प्राप्त करना चाहता है। इस विभाजन के द्वारा विभाजन को समाप्त करने, एकता लाने का प्रयास ऐसा ही है, जैसे अग्नि से अग्नि बुझाने का मूर्खतापूर्ण कार्य।

जब तक एक परमात्मा की पहचान सबको नहीं हो जाएगी, तब तक एकता भी कायम नहीं हो सकेगी और एक परमात्मा की पहचान केवल सद्गुरु से ही हो सकती है, किसी और से नहीं।

व्याख्या—अवतार वाणी का मूल स्वर यद्यपि अध्यात्म का है, तथापि यह पद राष्ट्रीय भावना और समाजोत्थान की कामना से ओतप्रोत है। राष्ट्र को कमजोर और समाज को विभाजित करने में इन सम्प्रदायों का बड़ा हाथ है, जिन्हें लोग भ्रातिवश धर्म समझ बैठे हैं।

धर्म एक बहुत ही व्यापक वस्तु है, जिससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का धारण होता है—संरक्षण होता है। आजकल कुछ विशेष बाह्य वेषों को धर्म मान लिया गया है, इसीलिए बहुत से लोगों में धर्म के प्रति हीनता के भाव पैदा हो गए हैं। पुराणों में धर्म के

चार चरण बताए गए हैं। तप, सत्य, दान, दया। सत्य और तप नामक धर्म के दो चरण हममें हमारे लिए ही रहते हैं तथा दान और दया दो चरण हमारे हृदय में दूसरों के लिए रहते हैं—इस प्रकार धर्म एक दूसरे को मिलाता रहता है। जब इसके विपरीत धर्म का उपयोग किया जाता है, तब धर्म लंगड़ा हो जाता है, लड़खड़ा जाता है। लंगड़ा धर्म स्वयं अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता। फिर दूसरों की रक्षा कैसे कर सकेगा। इसीलिए पूरे का पूरा चतुष्पाद धर्म एक ही व्यक्ति में विराजमान होना चाहिए। जब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में धर्म को बांट दिया जाता है, तब वह धर्म पूरा नहीं रहता, अधूरा हो जाता है। कैंकेयी ने भी कुछ ऐसा ही कहा था कि 'सत्य' आप में (दशरथ में) रहे और 'तप' राम में रहे, राज्य का 'दान' भरत को हो और 'दया' मंथरा के प्रति हो। यह अधूरा धर्म था।

महात्मा अवतार सिंह को यह बात बहुत बुरी लगती थी कि वर्तमान समय में सम्प्रदाय, पंथ, पार्टी, मजहब, आदि के लिए धर्म का प्रयोग होने लगा है। इनके प्रवर्तक महापुरुष सम्प्रदाय को दस बीस नियमों में बांध देते हैं उनका पालन करने वाले अपने और उन्हें न मानने वाले पराये। यह झगड़े का मूल है। अतः ये वास्तविक धर्म नहीं। एक (परमात्मा) को जानकर एक को मान कर एक हो जाना ही धर्म है।

अवतार सिंह जी महाराज का इस पद में मुख्य अभिप्राय यह है कि आत्म ज्ञान के आधार पर ही एकता हो सकती है। परम पिता को पहचान कर ही कोई किसी को भाई समझ कर गले मिल सकता है, अन्यथा नहीं। और यह एकता सद्गुरु ही कर सकता है। इसी पक्की एकता से विश्वबन्धुत्व की भावना का उदय होकर समाजोत्थान स्वयं ही हो जाएगा। एकता में सर्वाधिक बाधा संकीर्णता से होती है जो तत्त्वदर्शी के पास भी नहीं फटकती।

मूल पद 319

अगग वांगू भखदा ए सूरज उच्चा हो जो बहंदा ए।
 हौमें विच बन्दा वी ऐंदा हरदम सड़दा रहंदा ए।
 पर नीवीं धरती ते वेखो हर पासे हरियाली ए।
 सर्दी गर्मी विच वी इस ते हर वेले खुशहाली ए।
 धीरज नम्रता सहनशीलता सन्तां नूं एह प्यारी ए।
 कहे 'अवतार' एक गुरसिक्खां दी जग ते रीत न्यारी ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

ज्वाला जैसा जलता सूरज, ज्यों ऊंचा हो रहता है।
 ऐसे अहंकार में मानव हरदम जलता रहता है।
 नीची रहकर धरती देखो हरी भरी हो जाती है।
 सर्दी गर्मी में भी हरदम खुशहाली दरसाती है।
 सहनशीलता विनय धीरता संतों को ये प्यारी है।
 कहे अवतार यह रीति भक्त की सारे जग से न्यारी है।

अर्थ—ऊंचा होकर चलने के कारण सूरज को अग्नि की तरह जलना पड़ना है। इसी प्रकार अहंकारी मानव भी प्रतिक्षण अभिमान की अग्नि में जल कर कष्ट उठाता है। दूसरी तरफ पृथ्वी है जो नीची रहने के कारण हरियाली और खुशहाली को सदैव धारण किये रहती है। इसी प्रकार संत भी नम्र, विनीत, सहन-शील तथा धैर्यवान होते हैं और उनके जीने का यह ढंग संसार से विलक्षण होता है (अर्थात् संसार में जहाँ सर्वत्र मान, सम्मान बड़प्पन की होड़ लगती रहती है, वहाँ संत प्रीति नम्रता और सत्कार पर ही अधिक बल देते हैं)।

व्याख्या—इस पद में मायासक्त व्यक्तियों के दुख का कारण अहंकार और संतों के सुख का कारण नम्रता और सहनशीलता बतलाए गए हैं। संत वाणी में अन्यत्र भी ये भाव इस प्रकार मिलते हैं—

- (क) नानक नन्हे हो रहो जैसो नन्हीं दूब।
 सभी घास जल जाएगी दूब, दूब की दूब।
- (ख) लघुता से प्रभुता मिले प्रभुता से प्रभु दूर।
 चींटी ले शक्कर चली हाथी के सिर धूर।

अर्थात् अधिक बड़ा होने के कारण हाथी पर अधिक धूल जमती है, जबकि छोटी होने के कारण चींटी, चीनी का छोटा कण भी उठा लेती है, जिसे हाथी नहीं उठा सकता।

(ग) हरिजन तू हारा भला, जीतण दे संसार।

हारे को तो हरि मिलें, जीते जम का द्वार।

छोटा बनकर चलने से प्रभु-कृपा शीघ्र होती है, क्योंकि प्रभु 'दीन-बन्धु' हैं, अमीर-बन्धु नहीं।

इस पद में अभिमानी और विनम्र के लिए क्रमशः सूर्य और पृथ्वी का प्रयोग अवतारवाणी की अपनी उक्ति और सर्वथा नवीन उपमानों (तुलनाओं) का प्रयोग है। अन्य संतों ने इन उपमानों का प्रयोग शायद ही कहीं किया हो। अतः उपमानों की ताजगी की दृष्टि से भी अवतारवाणी का यह पद महत्वपूर्ण है।

सहनशीलता और धैर्य भक्त के विशेष गुण हैं, जिनकी ओर शास्त्रों में भी संकेत प्राप्त हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।

—गीता, 12-18

अर्थात्— हे अर्जुन, जो शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान में समान भाव से रहता है, गर्मी-सर्दी के सुख दुःखों को सहन करने वाला असंग भाव से रहता है वह मेरा भक्त है।

मूल पद 323

बंदा समझे पाठ ते पूजा मैंनू पार लंघावनगे।
जन्म मरन दे चक्कर तों एह मैंनू आन बचावनगे।
व्रत नेम नमाजां रोजे नाल मेरे एह जावनगे।
तीर्थ काबा हज ते काशी मेरे दुःख मिटावनगे।
कर्म धर्म सब बन्धन ही ने जिन्हां ए फंसया ए।
कहे अवतार ए नागन माया जिसने इस नूं डसया ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

बंदा समझे पाठ और पूजा मुझको पार लगावेंगे।
जन्म-मरन के चक्कर से ये मुझको आन बचावेंगे।
नेम नमाजें, रोजे व्रत ही संग में मेरे जावेंगे।
तीर्थ काबा हज्ज औ काशी मेरे दुःख मिटावेंगे।
कर्म-धर्म सब बन्धन ही हैं जिनमें है ये फंसा हुआ।
कहे अवतार है माया नागिन जिसने इसको डसा हुआ।

अर्थ—(यदि) मनुष्य ने यह समझ लिया है कि पाठ-पूजा ही मुझे भव सागर से पार लगा देंगे और आवागमन के (चौरासी लाख योनियों के) चक्र से भी मुझे यही बचा लेंगे, व्रत, नियम, नमाज, रोजे, आदि मृत्यु के पश्चात् भी मेरे साथ चलेंगे, हज्ज, काबा, काशी आदि तीर्थ मेरे (मायाजनित) दुःखों का अंत कर देंगे, तो ऐसा समझना उसकी भ्रांति ही है, क्योंकि ये धर्म-कर्म भी ज्ञान हीन मनुष्य के बन्धन ही हैं। मुक्ति के साधन नहीं। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि यह माया ऐसी नागिन है, जिसने कर्मकाण्डी साधकों को डस लिया है जिससे उन्हें भले बुरे का ज्ञान भी नहीं रहा।

व्याख्या—माया को नागिन का रूपक देने का कारण यह है कि माया के 5 लक्षण नागिन के समान हैं—

(1) नागिन की तरह माया भी अपने पैदा किए हुए बच्चों को खा जाती है।

माया अपने सेवक नूं वी अपने हत्थी दए मिटा।

जिवें सप्पणी आपे जम के अपने बच्चे लैंदी खा।

—अवतार वाणी, पद 261

(2) नागिन के डसे व्यक्ति को नीम, मीठा और गुड़ कड़वा लगता है। सोना अच्छा

लगता है और जागना बुरा। इसी प्रकार मायाग्रसित व्यक्तियों को भी राम-रस खारा, और जग-रस प्यार लगता है। वे परमार्थ में सोते ही रहते हैं। उन्हें कर्मकाण्ड मीठा लगता है और ज्ञान खट्टा लगता है।

(3) माया की भी नागिन की तरह रूप और नाम की दो जीभें होती हैं।

(4) नागिन अक्सर ऊपर से काली और नीचे (पेट) से उज्ज्वल होती है। माया भी ऊपर से अंधकारमयी काली और नीचे से उज्ज्वल होती है क्योंकि नीचे इसका आधार भी उज्ज्वल ब्रह्म ही है जिसकी शक्ति से यह कार्य करती है।

(5) गारुड़ी आकार डमरू-थाली की आवाज से जगा कर सांप का जहर मन्त्र द्वारा उतारता है। इसी प्रकार माया में सोए जीव को भी गुरु-ज्ञान से जगाया जाता है और गुरु-मन्त्र (सिंमरन) से माया का विष उतर जाता है।

कर्मकाण्ड की अनावश्यकता और अनुपयोगिता का प्रतिपादन कबीर आदि संतों ने 'ना मैं मन्दिर ना मैं मस्जिद ना काबे कैलास में' आदि उक्तियों द्वारा ही नहीं किया अपितु प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में भी इसका अनुमोदन उपलब्ध है। यथा—

(1) नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवं विधो दृष्टं दृष्टवानासि मां यथा।

(हे अर्जुन मैं वेदाध्ययन, तपस्या, दान, यज्ञ आदि से ऐसे नहीं जाना जा सकता हूँ)

—गीता, 11-53

(2) न तमश्नोति कश्चन दिव इव सानवारभम्।

सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पद्मथे।

—ऋग्वेद 10-62-9

(हे जीवात्मन् कोई भी वेदाध्ययन मात्र से दान से अथवा अनुष्ठानों से मुझे नहीं पा सकता है।)

(3) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

—मुण्डकोपनिषद् 3-2-3

(यह ब्रह्म प्रवचन मात्र से, व्याख्यान, वादविवाद, बुद्धि अथवा वेदशास्त्रादि के अध्ययन या सुनने से प्राप्त नहीं होता।)

(4) अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फल।

विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।

शब्द जालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणम्।

अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञातत्वमात्मनः।

—आद्यशंकराचार्यः विवेक चूड़ामणि, 61, 62

अर्थात्, परमात्मा को यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है और यदि परम तत्त्व को जान लिया तो भी शास्त्राध्ययन निष्फल (अनावश्यक) ही है। शब्द जाल तो

चित्त को भटकाने वाला महावन है। इसलिए किसी तत्त्वज्ञानी महात्मा से प्रयत्न करके आत्म तत्त्व को जानना चाहिए।

(5) संत वाणी का एक प्रसिद्ध दोहा है—

सब ही सुख वैराग में, तेज तपस्या माहि।
भगती से प्रभु वश रहें, मुक्ति ज्ञान विन नाहि।

(6) 'कर्म-धर्म सब बन्धन ही' को मिलाकर देखिए—

कर्मबन्ध विनाशयत्वज्ञानं भक्ति लक्षणम्।

—अध्यात्म रामायण, युद्धकाण्ड, 36

अर्थात्, कर्मबन्धों को काटने वाला (गुरु की) भक्ति से उत्पन्न ज्ञान और उसका ध्यान ही है।

अतः बीसवीं शताब्दी के सिद्ध संत युगपुरुष बाबा अवतार सिंह द्वारा प्रतिपादित यह मत वेद-शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है।

संत कवि गिरधर दास भी पाठ-पूजा करने वालों को संबोधित करते हुए कहते हैं—

पोथी पानी फेंककर, विचरो हो निष्काम।
आतम अनुसंधान कर, दिल में रहे अराम।
दिल में रहे अराम नहीं कुछ फुरती शंका।
'अहं ब्रह्म' परिपूर्ण निशिदिन बाजे डंका।
कह गिरधर कविराय दृश्य तुझ बिन सब थोथी।
तू सबका अधिष्ठान अरोपित जिसमें पोथी।

—गिरधर की कृण्डलिया, 164

यानी पोथियां पानी में फेंक कर, पाठ आदि कर्मकाण्ड छोड़कर, आत्मा का अनुसंधान करना चाहिए, अर्थात् निरंकार की खोज करनी चाहिए। इससे मन सुखी होगा और शंकाएं भी नहीं उठेंगी। सर्वव्यापी आत्मा का डंका रात दिन बजेगा क्योंकि यही (तू) सबका अधिष्ठान है और ग्रंथ आदि इसी में मिथ्या रूप से आरोपित हैं।

मूल पद 330

कन्नीं सुण के अक्खीं वेखो फिर इस ते इतबार करो।
 करनी दे नाल कहणी तुल जाए जीवन नूं इक सार करो।
 पकयां दे नाल मिल के बैठो कच्चयां दे विच मिल्लो ना।
 लोकी लक्ख भुलेखे पावण अपनी थां तो हिल्लो न।
 सोचो समझो तां गल मन्नों मन के ते फिर डोलो ना।
 कह अवतार सच नूं पाके फेर गंदगी फोलो ना।

हिन्दी काव्यानुवाद

कान से सुनके आंख से देखो फिर इस पर इतबार करो।
 कथनी करनी एक बना के जीवन को इकसार करो।
 संतों के संग मिल के बैठो दुर्जन के संग मिलो नहीं।
 दुनिया लाख भ्रांती डाले लक्ष्य से अपने हिलो नहीं।
 सोच समझ कर सत्य को मानो मान के फिर डोलो ना।
 कहे अवतार सत्य को पा के फेर गन्दगी खोलो ना।

अर्थ—महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि हे जिज्ञासु! सद्गुरु द्वारा दीक्षा प्रदत्त ज्ञान नेत्र से ब्रह्म का दर्शन (अपरोक्षानुभूति) करो और इसके बाद ही परमात्मा अथवा गुरु पर विश्वास करो। तत्पश्चात् इस ब्रह्म ज्ञान को जीवन में उतार कर अपनी कथनी-करनी में एकता स्थापित करके अपने जीवन को ही समदृष्टि-सम्पन्न बनाओ अर्थात् सब में ब्रह्म दर्शन ही करो। इसके पश्चात् कृसंग का त्याग करके नित्य सत्संग करो। लोग चाहे कितनी भी भ्रांतियां पैदा करें, लेकिन तुम्हें इस ब्रह्म से अपना मन हटाना नहीं चाहिए। गुरु की बात (दीक्षा) भी सोच समझ कर माननी चाहिए और जब एक बार मान ली तो फिर इससे हिलना उचित नहीं। सत्यरूप ब्रह्म को प्राप्त करके मन से माया का त्याग करने के पश्चात् फिर इस गंदगी (माया) में अपना मन मत लगाओ।

व्याख्या—

- (1) विवेकानंद कहा करते थे कि जो व्यक्ति परमात्मा को जानता नहीं, केवल मानता ही है, उससे तो वह अच्छा है जो न जानता है, न मानता है।
- (2) जब लौ न देखूं अपनी नैनी।
 तब लौ न मानूं गुरु की कहनी।

—कबीर

- (3) जाने बिन न होइ परतीती।
 बिन परतीत होइ नहिं प्रीती।
 बिना प्रीती नहिं भगति दृढ़ाई।
 ज्यों खगपति जल की चिकनाई।

—मानस

- (4) सामाधिना साधु विनिश्चलात्मना
 पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोध चक्षुषा।
 निः संशय सम्यगवेक्षितश्चेच्छुतः
 पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते।

अर्थात् ज्ञान नेत्रों से इस आत्मा को देखो क्योंकि यदि सुना हुआ पदार्थ निःसन्देह हो कर भली प्रकार देख लिया जाता है तो उसके विषय में फिर कोई संशय नहीं रहता।

—विवेक चूड़ामणि, 474

- (5) आत्मा ही दृष्टव्यः श्रोत्वो मन्तव्यो निदिध्यासित्व्यः। अर्थात्—वह परमात्मा ही दर्शन करने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है।

—बृह. उप. 4-5-6

- (6) माया को गन्दगी कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे अपनी की हुई उल्टी (वमन) को व्यक्ति फिर ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञान के समय त्यागी गई माया में संत फिर अपना मन नहीं लगाते—

रमा विलासु राम अनुरागी।
 तजत वमन जिमि जन बड़ भागी।

—मानस 2-324-8

वह संत भाग्यशाली है जो प्रभु का प्रेमी है और माया को वमन (उल्टी) के समान मन से त्याग देता है। मनुष्य जो वमन (उल्टी) करता है, उसकी ओर देखता भी नहीं परन्तु कुत्ते उसे बड़े चाव से खाते हैं। इसी प्रकार संतों द्वारा मन से त्यागी गई माया को मायासक्त व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य समझ कर संग्रहित करते हैं।

- (7) कुछ लोग यह शंका करते देखे गए हैं कि निराकार परमात्मा देखा नहीं जा सकता, परन्तु अवतार वाणी में उसे देखने की बात कही गई है। यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि ग्रंथों में इसके लिए 'दृश्' धातु का प्रयोग ही अधिकतर मिलता है, जिसका अर्थ 'देखना' ही है। यद्यपि यह देखना, अनुभव करना, अपरोक्षानुभूति करना आदि एक ही अर्थ के वाचक हैं।

अनुभव में भी यही आया है कि यह ज्ञान नेत्र से ऐसा दिखाई देता है कि फिर इसके अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। इस संदर्भ में वेद की यह ऋचा दृष्टव्य है—

दर्शानु विश्व दर्शतं दर्श रथमधि क्षमि।
एता जुषत मे गिरः॥

—ऋग्वेद 1-25-8

अर्थात्, विश्व में प्रकट हुए मुझ परमात्मा के स्वरूप को निश्चय ही देखो। इस पृथ्वी पर नाना रूपों वाली मेरी देहों को खूब देखो। मुझ परमेश्वर की इन वाणियों को सेवन करो यानी पालन करो।

मूल पद 331

जग विच रह के सारे जग नाल बेशक कारोबार करो।
पुत्तर धीयां रिश्ते नाते सभनां दे नाल प्यार करो।
एह पर सानूं भुल न जावे जेहड़ा असल ठिकाणा ए।
जग विच रह के चार देहाड़े जित्थे मुड़ के जाणा ए।
अंग संग साड़े वसदा ए जो एहदा, हरदम ध्यान करो।
कहे 'अवतार' गुरु दे सिक्खो सन्तां दा सम्मान करो।

हिन्दी काव्यानुवाद

जग में रह कर सारे जग से बेशक कारोबार करो।
बेटी-बेटा रिश्ते नाते सब के संग चाहे प्यार करो।
लेकिन इसको भूलो ना जो असली ठौर ठिकाना है।
चार दिना दुनिया में रह कर वापिस जहां फिर जाना है।
अँग संग अपने रहता है जो इसका हरदम ध्यान करो।
कहे अवतार गुरु के शिष्यो संतों का सम्मान करो।

अर्थ—संसार में रहकर भले ही अपने कारोबार करते रहो, अपने परिवार तथा संबंधियों से भी (अनासक्त होकर) प्यार करो, परन्तु प्रभु को कभी नहीं भूलना। क्योंकि इस मायावी संसार में तो थोड़े समय तक ही रहना है, अंत में तो फिर वहीं जाना पड़ेगा। हर समय अपने अंग संग (साथ) रहने वाले इस परमात्मा का ध्यान सदैव करते रहो। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि हे सद्गुरु के भक्तो, संतों का सम्मान अवश्य करो, क्योंकि संत का सम्मान प्रभु का सम्मान है।

व्याख्या—इस पद का केन्द्रीय भाव यह है कि 1. कभी भी अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों से न भागो, 2. कभी निराकार परमात्मा को न भूलो जो तुम्हारे अंग संग रहता है, और 3. संतों का सत्कार सदैव करना है।

(१) अध्यात्म में सामाजिक उत्तरदायित्वों से भागने वाले के लिए कोई स्थान नहीं। अर्जुन जब भागने लगा और कृष्ण से बोला कि मैं तो घर छोड़ कर भीख मांग कर खाना अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ (भोक्तुं भौक्ष्यमपहिलोके-गीता 2-5) तो भगवान् कृष्ण ने उन्हें समझाया कि इस प्रकार भागने से समाज में तेरी निन्दा होगी और इस अकीर्ति से तो मनुष्य के लिए मृत्यु अच्छी है।

भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं कि समाज में (गृहस्थादि के) सारे काम जानी भी अनासक्त होकर कहते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुलार्किसंग्रहम्।

—गीता 3-25

- (२) संत सेवा से ही भक्ति का स्वरूप बनता है। तभी तो संत वाणी में सर्वत्र संत सेवा पर बल दिया गया है। जैसे—

मोरे मन प्रभु अस विस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा ।

—मानस 7

- (३) एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

जानो जानो जगत में भाग उन्हीं के सार।
सत-संग में मन लगे तजे मान हंकार।
तजे मान हंकार करे तन मन धन सेवा।
भव सागर से पार करे पल भर में खेवा।
'गंगादास' कह राम संत में भेद ना मानो।
सब सुखदायक सदा संग संतों का जानो।

—गंगादास

मूल पद 332

दुनियाँ कहे दुनियाँ विच रहके रब दा पाणा औखा ए।
 बीवी बच्चे गृहस्थ निभाके भक्त कहौणा औखा ए।
 बिना समाधि बिना तपस्या योग कमौणा औखा ए।
 हरदम माया दे विच रहके प्रभु रिझौणा औखा ए।
 मैं बलिहारी जां सतगुर तों जिस एह गल समझाई ए।
 कहे अवतार जगत विच रहके रब दी सोझी पाई ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

दुनिया कहे दुनिया में रहके हरि को पाना मुश्किल है।
 सुत दारा गृहस्थी भक्ती साथ निभाना मुश्किल है।
 बिना समाधि बिना तपस्या योग कमाना मुश्किल है।
 हरदम माया में रह करके राम रिझाना मुश्किल है।
 बलिहारी मैं सतगुर पर जिसने सारा भेद बताया है।
 कहे अवतार जगत में रह कर रमे राम को पाया है।

अर्थ—आज संसार इस (असत्य) बात को मानता है कि संसार में रहकर प्रभु परमात्मा को प्राप्त करना बहुत कठिन है। गृहस्थ और भक्ति भी साथ-साथ नहीं चल सकती। संसार की यह भी गलत धारणा बन गई है कि कर्मकाण्ड की साधना किए बिना योग नहीं हो सकता और माया में रहकर प्रभु को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। मैं अपने सद्गुरु पर बलिहारी जाता हूँ, जिसने मुझे यह बात भली प्रकार समझा दी और मैंने संसार में रहकर ही आत्म-ज्ञान और भक्ति प्राप्त कर ली है।

व्याख्या—इस पद का मूल भाव यह है कि माया में रहकर भी मायापति की भक्ति की जा सकती है और आत्म-ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। जब सभी दृश्यमान माया है तो इससे बाहर व्यक्ति चला भी कहां जाएगा। तुलसी आदि संतों ने तो यहां तक कहा है कि प्राप्त करने की तो बात ही छोड़िये बिना साकार के निराकार ब्रह्म का कथन भी नहीं किया जा सकता। जैसे अज्ञान के बिना ज्ञान का, अंधकार के बिना प्रकाश का कथन नहीं हो सकता, ऐसे ही निराकार का अनुभव और ज्ञान भी साकार से होता है—

ज्ञान कहे अज्ञान बिनु तम बिनु कहे प्रकाश।
 निर्गुन कहे जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास।।

महात्मा अवतार सिंह घर छोड़ कर भक्ति करने के बड़े विरोधी थे और इसका दुष्परिणाम भली भाँति समझते थे कि इससे समाज में शोषण, अकर्मण्यता और दुराचार बढ़ेगा, साथ ही संतों के पाखण्डी बनने की भी अधिक सम्भावना है। अतः जब उन्हें ब्रह्म ज्ञान की अपरोक्ष अनुभूति हुई तो उन्होंने डंके की चोट घोषणा की कि भक्ति के लिए घर छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

यदि कमल जल से अलग रहकर निर्लिप्त रहना चाहे तो कमल का अस्तित्व भी संभव न रहेगा, साधना तो होगी कैसे ? तभी गीता में कहा गया है कि भक्त को संसार में जनक, राम, कृष्ण, सप्तऋषियों आदि की तरह ऐसे रहना चाहिए, जैसे कमल जल में रहता हुआ भी जल में लिप्त नहीं होता और न जल से प्रेम ही करता है अपितु प्रेम तो सूर्य से ही करता है।

आध्यात्मिक साधना में गृहस्थ इतना बाधक नहीं जितनी बाधक आसक्ति है। संतों की रहनी ऐसी होती है कि—

संसार में हूँ पर तलबगार नहीं हूँ।
बाजार में हूँ पर खरीदार नहीं हूँ।

—साबिर

मूल पद 343

कोई एह आखे तड़के उठके ठण्डे पाणी नहाणां पुन्न।
 कोई एह आखे तीरथ जा के मुड़-मुड़ डुबियां लाणा पुन्न।
 कोई एह आखे गृहस्थ नू छड़ के साधु ही बण जाणा पुन्न।
 कोई एह आखे मन शुद्धि लई पढ़ना अते पढ़ाना पुन्न।
 पुन्नां पापां दे झगड़े विच दुनियां सारी उलझ गई।
 कहे 'अवतार' जिस रब पछाता केवल ओह रुह सुलझ गई।

हिन्दी काव्यानुवाद

कोई कहता तड़के उठकर शीतल जल में नहाना पुण्य।
 कोई कहता तीरथ जा के फिर फिर डुबकी लगाना पुण्य।
 कोई कहता गृहस्थ त्याग के साधु ही बन जाना पुण्य।
 कोई कहता मन शुद्धि हित पढ़ना और पढ़ाना पुण्य।
 पुण्य-पाप के झगड़े में ही दुनिया सारी उलझ गई।
 कहे अवतार जिसने हरि पाया, वही आत्मा सुलझ गई।

अर्थ—कोई सुबह शीतल जल में स्नान करने को और कोई तीर्थों में जाकर डुबकी लगाने को ही पुण्य कहता है। कोई गृहस्थ-त्याग कर साधु बनने को अथवा मन शुद्धि के लिए पढ़ने-पढ़ाने को ही पुण्य समझे बैठे हैं। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि इस प्रकार क्या पुण्य है? और क्या पाप? इन्हीं विवादों में संसार उलझ रहा है और अपने वास्तविक लक्ष्य, प्रभु को भूल गया है। आत्म-दर्शन करके अथवा हरि को प्राप्त करके जीवन स्वयं इस पुण्य पाप के झगड़े से सुलझ जाता है और सहज सामाधि से रहकर उसका प्रत्येक कार्य उपासना हो जाता है।

व्याख्या—

- (1) यहां युगपुरुष का आशय यह है कि स्नान, तीर्थ स्पर्श, गृहत्याग, अध्ययनादि स्वास्थ्य बढ़ाने के लिए या सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो अधिक लाभदायक हो सकते हैं, परन्तु 'ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति' से इनका अधिक सम्बन्ध नहीं, क्योंकि इन तथाकथित पुण्य-कार्यों को करता हुआ भी यदि कोई सद्गुरु से ब्रह्म की अनुभूति न करे तो क्या लाभ? और यदि इन कार्यों को कोई नियमित रूप से नहीं भी करता और सद्गुरु से ब्रह्म-दर्शन कर लेता है तो वह परमात्मा का अपरोक्ष

अनुभव करके वेदपाठी विप्रों से भी ऊपर उठ जाता है। गीता में गोविन्द, अर्जुन से यही तो कहते हैं कि 'त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन (गीता 2-45)' अर्थात् वेद तो तीनों गुणों (रज, तम, सत) को ही विषय करने वाले हैं, तू आत्म ज्ञानी होकर गुणातीत हो जा, अर्थात् तीनों गुणों से ऊपर पहुंच।

- (2) ब्रह्मज्ञानी द्वारा किए गए सभी कर्म पवित्र (धर्म अथवा पुण्य) हैं क्योंकि वे कर्तापन के अहंकार को छोड़ कर किये जाते हैं और अज्ञानी के सभी कर्म (पाठ पूजादि भी) पुण्य-कर्म नहीं क्योंकि वे कर्तापन के अहंकार से किए जाते हैं। कर्तापन का अहंकार, बिना ज्ञान कभी समाप्त नहीं हो सकता।

बचपन में कठपुतलियों का खेल देख कर बच्चे बहुत आनंदित होते हैं और लकड़ी की जड़ पुतलियों को अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक कार्य करते देख कर वे समझते हैं कि ये पुतलियां ही सब कुछ कार्य कर रही हैं, क्योंकि पर्दे में छिपे सूत्रधार का उन्हें ज्ञान नहीं होता। जब उन्हें पर्दानशीन सूत्रधार दिखाई देता है, तभी वे समझते हैं कि सब कुछ करने वाला तो यह है। इस प्रकार सद्गुरु जब माया के पर्दे में छिपे ब्रह्म को दिखा देता है तो व्यक्ति सब कार्यों का कर्ता इसी (ब्रह्म) को देखता है। तब इसे किसी भी कार्य में कर्तापन का अहंकार नहीं होता। दुनिया के सब जड़-चेतन मिट्टी की पुतलियां ही तो हैं। यह पुतलियां अज्ञान के कारण स्वयं को कर्ता मान बैठी हैं। जिस पुतली को सूत्रधार का ज्ञान हो जाता है, वह ज्ञान के कारण इस अहंकार से मुक्त हो जाती है। संत बाणी कहती है—

जो इक बूझिआ ते सदा पाक।

जे इक ना बुझिआ ते सदा नापाक।

अर्थात्—एक ब्रह्म को जान कर सब कार्य पवित्र (पुण्य) हो जाते हैं और ब्रह्म को न जान कर सब अपवित्र हैं।

- (3) स्नातं तीर्थजन्तु जादौ ततः किं।

दानं दक्षं द्वयस्त-संख्यं ततः किम्।

जप्ता मन्त्राः कोटिशो वा ततः किं

येन स्वात्मा नेव साक्षात्कृतोऽभूत्।।

—गुरुबोध सार (शंकराचार्य), पृ. 9

अर्थात् गंगा आदि तीर्थों में स्नान किया तो क्या ? सोलह प्रकार के दान दिए तो क्या ? कोटि-कोटि मंत्रों का जाप किया तो भी क्या लाभ, यदि उसने अपनी आत्मा का साक्षात्कार ही नहीं किया ?

- (4) गोस्वामी जी भी यही कहते हैं—

जप, जोग, विराग, महा मख, साधन, दान, दया, दम, कोटि करै।

मुनि, सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै।

निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानल में जुग पुंज जरै।
मन सौं पन रोपि कहै तुलसी, रधुनाथ बिना दुख कौन हरै।।

—तुलसीकृत कवितावली, 7-55

- (5) दिखावा करने, घर छोड़ने और भिक्षा मांगने की निंदा अन्य संतों ने भी की है—

उज्ज्वल पहिने कापड़ा, पान सुपारी खाय।
कबीर हरि की भक्ति बिन, बांधा जमपुर जाय।।
भीतर सो मैलो हियो, बाहर रूप अनेक।
'नारायण' तासों भलो, कौआ तन मन एक।।
मर जाऊं मांगूं नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारनै मोहि न आवै लाज।।
मांगन मरन समान है, मत कोई मांगों भीख।
मांगन सों मरनो भलो, यह सत्गुरु की सीख।।

- (6) धर्म ग्रंथों को पढ़ना भी पुण्य कार्य कैसे हो सकता है, यदि ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हुआ? तभी शायद कबीरादि संतों को यह लिखना पड़ा—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।।

और यह प्रेम का अढ़ाई अक्षर सद्गुरु ही पढ़ाता है क्योंकि सद्गुरु आत्म-ज्ञान करा देता है, जिससे प्रेम पैदा होता है और अहंकार छूट जाता है।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

किताबों से न पूछो बातें खुदा की।
खुदा को खुदा के पियारों से पूछो।
जवानों से बाहर बयानों से बाहर।
इशारों की बातें इशारों से पूछो।

'गुरु गीता' प्रथम अध्याय के श्लोक संख्या 22 और 23 में कहा गया है कि वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, आदि मन्त्र यन्त्रादि विद्याओं का मोहन, उच्चाटन आदि, शैव शाक्त आगम आदि तथा अन्य अनेक मत, भ्रमित चित वाले समस्त जीवों को भ्रम में डालने वाले हैं।

कहने का आशय यह है कि वेदादि ग्रंथ गुरु बिना अज्ञान को दूर नहीं कर पाते, अतः इन्हें भ्रमित करने वाले कहा गया है। ब्रह्म-ज्ञान के प्रेरक और पुष्टिकारक होने से ग्रंथ भी वस्तुतः अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, परन्तु ब्रह्मज्ञान गुरु से ही होता है, ग्रंथों या पंथों से नहीं।

युगपुरुष अक्सर कहा करते थे कि कर्म-धर्म, पाप-पुण्य आदि का रहस्य केवल यह है कि जो कार्य आसक्ति और अहंकार से किये जाते हैं, वे 'कर्म' कहलाते हैं, जो बन्धन का

कारण हैं और जो कार्य अनासक्त हो कर कर्तापन का अहंकार त्याग कर किए जाते हैं, वे 'धर्म' हैं जो मुक्ति के कारण हैं। 'ब्रह्मज्ञान' की अग्नि में ज्ञानी के कर्म जल जाते हैं और जिस प्रकार भुना हुआ अन्न, बोने पर भी नहीं जमता अर्थात् अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि में दग्ध हुए कर्म पुनर्जन्म का कारण नहीं बनते। 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' (गीता 4-14) अर्थात् जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि में जल गए हैं, उसे बुद्धिमान लोग पण्डित और धर्मात्मा कहते हैं।

तद्यथेषिका तुलमग्नौ प्रोतं प्र द्वयैतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदयन्ते।

—छान्दयोग्य उपनिषद् 5-24-3

अर्थात् जैसे इषिका (मूँज) के रेशे अग्नि में पड़ते ही भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी के पाप, ज्ञान की अग्नि में भस्म हो जाते हैं।

मूल पद 344

राम राम ते शाम शाम कर चाहे रोज पुकारो पए।
अल्ला अल्ला वाहेगुरु वाहेगुरु, कर कर लख सत्कारो पए।
गाड गाड वी आखी जाओ जो जी आए उचारो पए।
रब ने बिलकुल नहीं रीझणा बोल बोल के हारो पए।
जिसने इस नूं वेख ध्याया, उसदा बेड़ा पार होया।
कहे 'अवतार' इस कलियुग अन्दर नां इसदा निरंकार होया।

हिन्दी काव्यानुवाद

राम-राम या श्याम श्याम कह चाहे रोज पुकार रहे।
अल्ला-अल्ला वाहेगुरु कह कर लाखों ही सत्कार रहे।
गाँड गाँड कह किसी नाम से जो जी आए उचार रहे।
हरि तो बिलकुल खुश नहीं होगा, बोल-बोल के हार रहे।
जिसने इसको देख कर ध्याया उसका बेड़ा पार हुआ।
कहे अवतार इस कलियुग में नाम इसका निरंकार हुआ।

अर्थ—सद्गुरु से परमात्मा को जाने बिना राम-राम, श्याम-श्याम अल्ला-अल्ला, वाहे गुरु-वाहे गुरु, गाँड-गाँड, आदि किसी भी नाम का जप करने से या किसी अन्य की सेवा सत्कार करने से कोई लाभ नहीं। भगवान के किसी भी नाम को गुरु ज्ञान के बिना बोलते-बोलते चाहे कोई थक जाए, परन्तु इससे भगवान बिलकुल भी (उस साधक से) प्रसन्न नहीं होता। जिस जिज्ञासु ने पहले (गुरु की कृपा से) ज्ञान नेत्र से परमात्मा को देखा है और इसके पश्चात् ध्यान अथवा स्मरण किया है, भव सागर से उसी की नाव पार होती है अर्थात् उसे ही मुक्ति मिलती है। महात्मा अवतार सिंह कहते हैं कि निरंकार (निराकार) ही इस कलियुग में परमात्मा का सर्व श्रेष्ठ नाम है।

व्याख्या—इस पद में तीन दावे किए गए हैं—1. आत्म-ज्ञान के बिना जप (प्रार्थना कीर्तन आदि) व्यर्थ हैं। 2. आत्म-ज्ञान के पश्चात् किए गए जप, ध्यान, प्रार्थना आदि से मुक्ति होती है। 3. अवतार सिंह जी महाराज के मतानुसार वर्तमान कल काल में परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम निरंकार (निराकार) है।

अब इन तीनों पर अलग-अलग विचार करना अधिक समीचीन होगा—

(क) जबलगि आत्म तत्व नहीं चीन्है सबै साधना झूठी।

—भक्त नरसी मेहता

अर्थात् जब तक आत्म तत्व का दर्शन (अनुभव) नहीं होता, तब तक सारी साधनाएं व्यर्थ हैं।

(ख) न गच्छति विना पानं व्याधिरोध शब्दतः।

विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्म शब्देन मुच्यते।।

—आद्य शंकराचार्यः विवेक चूड़ामणि, 64

अर्थात् दवा को पिये बिना ही दवा-शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म' कहने से कोई मुक्त नहीं होता।

(ग) वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई।

निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्त नहि होई।

—तुलसीदास-विनयपत्रिका

अर्थात् शब्द ज्ञान में निपुण (राम नाम का) उच्चारण करके ही इस प्रकार मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। रात को अपने अन्धेरे घर में दीपक की केवल बातें करके कोई उजाला नहीं कर सकता।

(घ) तद्विहीनं जाराणामिव।

—नारद भक्ति सूत्र, 23

भगवान् को जाने बिना किया जाने वाला प्रेम जारों के प्रेम के समान है। इसलिए परमात्मा का ज्ञान होने से पहले यदि हम किसी संत या अन्य पदार्थ को भगवान मान कर उसकी भक्ति करते हैं, तो वह ऐसा ही है, जैसे कोई स्त्री अपने वास्तविक पति को छोड़ कर किसी और से प्रेम करती हो (जार = यार)।

2. मुक्ति केवल आत्म ज्ञान से ही होती है, किसी कर्म काण्ड आदि से नहीं, इसके उदाहरण शास्त्रों में सर्वत्र भरे पड़े हैं। यहां एक पर्याप्त होगा—

सब ही सुख वैराग में, तेज तपस्या मांहि।

भगती से प्रभु वश रहें, मुक्ति ज्ञान बिन नांहि।। —संत बाणी

यहां अवतारवाणी का आशय जप, तप आदि किसी कर्मकाण्ड का खण्डन करना नहीं, बल्कि यह बतलाना है कि कर्मकाण्ड आदि साधन हैं और ब्रह्म-ज्ञान (भक्ति) साध्य यानी लक्ष्य है। साध्य को प्राप्त करके साधन स्वयं ही छूट जाते हैं। मूर्ति पूजा आदि भी ज्ञान से पहले तक ही करने का विधान शास्त्रों में लिखा है। यथा—

तावन्मामर्च येदेवं प्रतिमादो स्वकर्मभिः।

यावत्सर्वेष भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत्।।

—अध्यात्मरामायण उत्तरकाण्ड, 76

अर्थात् मुझ परमेश्वर का अपने कर्मों द्वारा प्राप्तिमा आदि में तभी तक पूजन करना चाहिए, जब तक कि समस्त प्राणियों में और अपने आप में मुझे स्थित न जाने।

3. भगवान के सभी नामों में निरंकार (निराकार) श्रेष्ठ नाम मानने का कारण यही है कि वर्तमान युग में अनेक साकार रूपों में भगवान के विषय में भ्रान्ति होने का भय है, अतः 'निराकार' नाम और उसके गुण-ग्रहण करने से पदार्थ-ज्ञान में सरलता हो सकती है।

भारत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों—अध्यात्म रामायण, मानस आदि में 'निराकार' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिये उपलब्ध होता है। संस्कृत का शुद्ध 'निराकार' शब्द ही पंजाबी लय (accent) के कारण 'निरंकार' हो गया है।

प्रभु-नाम वही श्रेष्ठ है, जो गुरु द्वारा प्रदान किया गया हो और जिससे जिज्ञासु समाधिस्थ होकर जीवन मुक्त हो जाता है। यही कारण है कि तुलसी, कबीर आदि को 'राम' नाम प्रिय है और सूरदास को कृष्ण नाम ! इसी प्रकार अवतार सिंह जी को 'निरंकार' नाम प्रिय और श्रेष्ठ लगता है। उनके मतानुसार कलियुग में इसका विशेष महत्व है, जो शीघ्र मुक्ति प्रदान करने में सक्षम है। वैसे परमात्मा के नाम अनेक हो सकते हैं परन्तु 'परम पदार्थ' तो एक ही है। राम-नाम की इस वस्तु को जान कर फिर जो भी इसका नाम लगे, वही लाभकारी होगा। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

अल्लाह बोलिए चाहे राम बोलिए।
पहले पहचान के फिर नाम बोलिए।

मूल पद 350

अग्न नूं अग्न दे नाल बुझाणा अग्न नूं होर वधाणा ए।
 फिरक्यां विच्चों एक्का लभणा ऐवें मगज खपाणा ए।
 नफरत नूं नफरत नाल जितणा झूठे दावे करना ए।
 मजहवां विच्चों रब नूं लभणा जींदया जींदया मरना ए।
 एके दा प्रचार है फोका जे इस इक नूं जाता ना।
 कहे अवतार बिना गुरु पूरे रब एह किसे पछता ना।

हिन्दी काव्यानुवाद

अग्नी को बुझाना अग्नी से अग्नि को और बढ़ाना है।
 समुदायों में कहां एकता खाली मगज खपाना है।
 घृणा से ही जीतना घृणा को झूठे दावे करना है।
 धर्मों-अन्दर खोज हरी की जीते-जी ही मरना है।
 प्रचार एकता का है, थोथा जो इस एक को जाना ना।
 कहे अवतार बिना गुरु पूरे किसी ने राम पहचाना ना।

अर्थ—(जिस प्रकार) अग्नि को अग्नि के द्वारा बुझाने से वह और बढ़ती है, उसी प्रकार अनेक सम्प्रदायों को एक करने के लिए जब कुछ व्यक्ति प्रयत्न करते हैं, अथवा सम्प्रदायों में एकता की खोज करते हैं, तो इससे एक नया सम्प्रदाय और खड़ा हो जाता है और इस दिशा में की गई सारी माथापच्ची व्यर्थ ही सिद्ध होती है। जिस प्रकार घृणा से घृणा को समाप्त करने का दावा सदैव झूठ ही सिद्ध होगा, उसी प्रकार वर्तमान तथाकथित अनेक धर्मों में हरि को प्राप्त करना उतना ही असम्भव है जितना जीवन और मृत्यु का साथ-साथ रहना। एक प्रभु के ज्ञान के बिना, एकता का प्रयत्न निष्फल है और प्रभु की पहचान (आत्मानुभूति) पूर्ण गुरु (तत्त्ववेत्ता ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु) के बिना किसी को हुई नहीं—ऐसा अवतार सिंह का कथन है।

व्याख्या—इस पद में वाणीकार ने विश्व बन्धुत्व और भावात्मक एकता का आधार ब्रह्म-ज्ञान को मानते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि परमात्मा को जाने बिना एकता कायम करने का प्रयास सदैव विफल होगा। एक प्रभु का ज्ञान होने से ही एकता कायम होगी और प्रभु-ज्ञान का एकमात्र मार्ग पूर्ण सद्गुरु है। विभिन्न सम्प्रदायों और तथाकथित धर्मों से भी अज्ञान बढ़ता है। अतः इन्हें त्याग कर सद्गुरु की शरण लेकर प्रभु की पहचान

करनी चाहिए।

ब्रह्म ज्ञान के द्वारा प्रेम का उदाहरण देते हुए युगपुरुष दो पठानों का उदाहरण दिया करते थे, जो बचपन में अलग-अलग हो गए थे। सगे भाई होते हुए भी एक दूसरे को भुला बैठे थे। युवावस्था में संयोगवश ट्रेन के एक ही डब्बे में चढ़ गए और सीट को लेकर विवाद कर बैठे। वाद-विवाद हाथपाई में बदल गया और परस्पर मारपीट करने लगे। एक ने कहा—तू जानता नहीं, मैं अमुक ग्राम के पठान का लड़का हूं, तेरा दम निकाल दूंगा। दूसरा चौंका, क्योंकि वह भी उसी पिता का पुत्र था। अपने पिता को जान कर दोनों भाई प्रेम से गले मिले। इसी प्रकार परमपिता को जान कर मानव प्रेम से गले मिल सकता है।

सब धर्मों (सम्प्रदायों) को त्याग कर सद्गुरु की शरण में जाने से ही मानव का कल्याण होता है, यह बात वेदादि ग्रन्थों से भी प्रमाणित होती है—

सर्वधर्मान्परित्यज मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षिष्यामि मा शुचः॥

—गीता 18-66

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू सब धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। तू चिन्ता न कर। इसका आशय यह है कि मानव को सब तथाकथित धर्मों और साम्प्रदायों का परित्याग कर सद्गुरु की शरण में आने से ही मुक्ति मिलती है और समस्त मायाजनित दुख और चिन्ताएं समाप्त होती हैं। अनेक धर्मों और सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त सुन कर बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है। तभी तो भगवान् कृष्ण ने गीता 2-53 में भी अर्जुन को कहा कि अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर तेरी बुद्धि विचलित (श्रुतिविप्रतिपन्ना) हो गई है, आत्म ज्ञान से ही वह स्थिर हो सकती है।

अन्यत्र भी कहा गया है कि—

मा विमैनं मरिष्यसि जरदष्टि कृणोर्म त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्मङ्गभ्यो अङ्गज्वं तव॥

—अथर्व वेद 5-30-8

अर्थात्—हे मुमुक्षु जीव, मैं उपदेश देता हूं और तेरे सारे दुःखों को दूर करता हूं। मेरी शरण में आया हुआ तू मृत्यु से छूट जाएगा। शोक मत कर। शरण में आए हुए तुझको अजर-अमर बना कर मुक्त करता हूं—

न तम हो न दुरितं कुतश्चन
नारातयस्तितरुनं द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे
यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्तपे॥

—ऋग्वेद 2-23-5

अर्थात्—हे परमात्मन्, पूर्ण रूप से रक्षा करने वाल तुम, जिस जीव की रक्षा करते हो, उसे कोई पाप नहीं छूता, उसे कोई दुख प्राप्त नहीं होता। कामादि शत्रू भी नहीं सताते। इस लोक और परलोक में भी वह तिरस्कृत नहीं होता। तेरी (सद्गुरु अथवा हरि) शरण में आए हुए को कोई सांसारिक बाधा दुख नहीं देती, वह मुक्ति पथगामी है।

अतः स्वतः सिद्ध है कि इस पद में किसी विशेष सम्प्रदाय व धर्म की तरफ संकेत नहीं, बल्कि वेदादि ग्रन्थों के आधार पर ही यह कहा गया है कि अनेक मत-मतान्तरों से न प्रभु प्राप्ति होगी और न एकता ही होगी। इनसे उलटे और विरोध ही बढ़ेगा। मुक्त होने के लिए सद्गुरु की शरण आवश्यक है, न कि सम्प्रदायवाद अथवा फिरकापरस्ती।

जैसे गड़रिए अपने-अपने बाड़े इसलिए बना लेते हैं, जिससे उनकी भेड़ें किसी दूसरे के यहां न चली जाएं, इसी प्रकार तथाकथित अनेक धर्मों एवं सम्प्रदायों के बाड़े बनाए जाते हैं, जिससे उनके शिष्य कहीं अन्यत्र न चले जाएं। कभी-कभी भेड़ों की तरह ही कुछ निशान और पहचान भी अपने भक्तों के शरीरों और कपड़ों आदि पर बना दी जाती है। धर्म स्थलों, पहनावे, तिलक, छापे आदि की भिन्नता भी इसी अलगाववादी सम्प्रदायिक भावना की परिचायक बन जाती है। इनके भिन्न-भिन्न नियमों से जिज्ञासु भ्रांति में पड़ जाते हैं। इससे न प्रभु ही मिलता है और न भक्ति, प्रेम अथवा एकता ही उपलब्ध होती है। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

सम्प्रदायों और फिरकों से धरम बदनाम है।

इन्सान का इंसानियत ही धर्म होना चाहिए।।

मूल पद 351

धरती थर-थर कम्बण लगदी अम्बर छम-छम रोंदा ए।
पापां दा जद धरती उत्ते आण बसेरा होंदा ए।
प्यार नम्रता उड़ जादे ने नफरत जद छा जांदी ए।
सड़दी बलदी दुनिया अन्दर रुह राणी घबरांदी ए।
हाहाकार जगत दी सुण के रब वी रूप बटान्दा ए।
बन्दे दा 'अवतार' बदल के बाणा जग ते आन्दा ए।

हिन्दी काव्यानुवाद

धरती थर-थर कम्पित होती, नयन-नीर-नभ रोता है।
धर्म की हानि हो धरती पर पाप-बसेरा होता है।
प्रेम-नम्रता उड़ जाते हैं, नफरत जब छा जाती है।
जीवआत्मा दग्ध जगत में जलती औ अकुलाती है।
चीत्कार सुन निराकार, साकार सरीर सजाता है।
मानव का तब रूप धार 'अवतार' जगत में आता है।

अर्थ—जिस समय (वास्तविक) धर्म का ह्रास होकर पृथ्वी पर पाप का भार बढ़ता है तो धरती (उस भार के कारण) थर-थर कांपने लगती है और आकाश (वर्षा के बहाने) आंसू बहाने लगता है, जब प्रेम-नम्रता आदि सद्गुण संसार से समाप्त होने लगते हैं और सब जगह घृणा-विग्रह आदि दुर्गुण फैल जाते हैं, संसार की इस शोचनीय अवस्था में यहां के जीव त्रस्त और भयग्रस्त हो जाते हैं, तो निराकार परमात्मा संसार का उद्धार करने के लिए मनुष्य रूप में अवतरित होता है।

व्याख्या—अवतारवाणी का यह पद अवतारवाद का स्पष्ट समर्थन करने के कारण 'विशिष्टाद्वैतवाद' का प्रतिपादन करता है।

(1) यही अविनाशी परमात्मा मनुष्यादि योनियों में प्राप्त होता है और प्रकृति को वश में करके पदार्थों को धारण करता है।

—अथर्व वेद 5-1-1 का अर्थ

(2) यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

—गीता, 4-7

- (3) जब-जब होइ धरम के हानी।
बाढहिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं विप्र धेनु सुर घरनी।
तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

—मानस

'धर्म की हानि होने से धरती काँपने' का भाव यह है कि जब मनुष्य मानवता-मूल, आत्म-ज्ञान को भूलकर विविध पंथों ग्रंथों आदि में उलझ कर वैर ईर्ष्या नफरत आदि फैलाने लगता है अथवा परमात्मा से अधिक, परमात्मा के स्थानों, चित्रों, नामों, ग्रंथों को महत्त्व देकर लड़ाइयाँ करने लगता है, तो धरती भी काँप उठती है और आकाश भी रोने लगता है।

विविध ग्रंथों, स्थानों, नामों और चित्रों में उलझकर मानव वास्तविक धर्म (संत सेवा से आत्म दर्शन) को भूल जाता है। इस कारण यहाँ धर्म के नाम पर अधर्म, शान्ति के स्थान पर अशान्ति और सुख के बजाय दुःख देखने को मिलता है। संतों पर अत्याचार और संसार में तकरार अधिकतर इसी कारण होते रहे हैं। यद्यपि ये सारे नाम, धाम, ग्रंथ, पंथ आदि हैं परमात्मा के ही, परन्तु परमात्मा तो नहीं। उदाहरणतया आपका नाम और धाम, आपका समाज या सर्किल (पंथ) चित्र आदि यद्यपि सब आपके ही हैं परन्तु आप तो इन सब से अलग हैं। ऐसे वातावरण में, जब धर्मिक कहलाने वाले लोग ही सत्य धर्म के मार्ग को अवरुद्ध करने का कारण बने, स्वयं परमात्मा अवतरित होते हैं। मानव रूप धार का पुनः सत्य धर्म की स्थापना करते हैं। आलोच्य पद का यही केन्द्रीय भाव है। यह पद इस तथ्य को भी प्रतिपादित करता है कि सत्य धर्म का सन्देश-वाहक सद्गुरु निर्गुण ब्रह्म का ही सगुण स्वरूप होता है।





Publication Department
Sant Nirankari Mandal, Delhi-110009